अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में
प्रोफेसर संगम लाल पाण्डेय के दर्शन का विश्लेषण

ADWAIT VEDANT KE PARIPREKSHYA MEIN PROFESSOR SANGAM LAL PANDEY KE DARSHAN KA VISHLESHAN

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशक
डॉ० नरेन्द्र सिंह
उपाचार्य, दर्शन–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता
राजीव कुमार सिंह
एम०ए०, एल एल०बी

सितम्बर २००२

पुरोवाक्

तीर्थराज प्रयाग की पावन धरती पर अवस्थित एवं पूर्व के आक्सफोर्ड के रूप में विख्यात प्रयाग विश्वविद्यालय की एक गौरवपूर्ण एवं समृद्धिशाली परम्परा रही है। इस परम्परा को जीवन्तता प्रदान करने वाले प्रो० जार्ज थीबो, प्रो० गफ, डॉ० गंगानाथ झा, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० रामनाथ कौल जैसे लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों की एक लम्बी श्रृंखला रही है। इसी विद्वत् श्रृंखला की अगली कड़ी थे- प्रो० संगम लाल पाण्डेय।

वैदिक मनीषियों ने देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण के रूप में 'ऋणत्रयी' की परिकल्पना की जो कि एक ढंग से कर्त्तव्यबोध को ही प्रकटित करता है। इसी ऋषि ऋण अर्थात् गुरू ऋण के कर्त्तव्य बोध के भाव ने ही मेरे शोध निर्देशक के मनःमस्तिष्क को बार-बार उद्वेलित किया कि आचार्य प्रवर संगमलाल पाण्डेय के दर्शन पर शोध करवाकर इस गुरू ऋण से उऋण होने का किंचित् प्रयास किया जाय। इस सन्दर्भ में आचार्य प्रवर से अनुमति लेकर ही अपनी परिकल्पना को साकार करने के लिए मुझे शोध का शीर्षक **'अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में प्रोफेसर संगम लाल पाण्डेय के दर्शन का विश्लेषण'** आवंटित किया जो कि मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। यह शोध प्रबन्ध दो प्रकार से गुरू ऋण से मुक्ति का द्वार खोलेगा। एक तो मेरे शोध निर्देशक यह विषय मुझे देकर मुक्ति के भागी बने हैं, दूसरे, यदि शोध प्रबन्ध अपने लक्ष्य में सफल रहा तो मैं साधन बनकर अपने को धन्य समझूँगा। यद्यपि इस शोध कार्य का प्रारम्भ आचार्य प्रवर के सानिध्य में ही हुआ परन्तु मैं अपनी पारिवारिक समस्याओं के कारण उनके जीवन काल में इस कार्य को पूर्ण नहीं कर सका, अन्यथा इस शोध प्रबन्ध का कलेवर कुछ और ही होता।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सम्पूर्ति में आदरणीय गुरूजनों की प्रेरणा, स्नेह, आशीष तथा सौहार्द का अत्यन्त योगदान रहा है। एतदर्थ, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत

कर्त्तव्य समझता हूँ। परम श्रद्धेय डॉ० नरेन्द्र सिंह की नैसर्गिक कृपा मुझे प्रतिपल मिलती रही है और उन्हीं की कृपा, सानिध्य, सम्यक् निर्देशन तथा सतत् निरीक्षण में यह शोध कार्य पूर्ण हो सका है। इनके प्रति कृतज्ञता शब्दों में ज्ञापित करना सम्भव नहीं। अस्तु उनका चिर ऋणी रहूँगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग की इसी विद्वत् परम्परा में प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, प्रो० एस० के० सेठ, प्रो० रामलाल सिंह, प्रो० देवकीनन्दन द्विवेदी, डॉ० जटाशंकर त्रिपाठी, डॉ० हरिशंकर उपाध्याय, डॉ० मृदुला रवि प्रकाश, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० आशालाल प्रभृति का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सहायता प्रदान की। इसके साथ संस्कृत विभाग के डॉ० राम सेवक दुबे द्वारा प्राप्त मार्गदर्शन के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मैं अपने परम पूज्य पिताजी डॉ० दान बहादुर सिंह, पूर्व उपाचार्य एवं अध्यक्ष गणित विभाग, राजा हरपाल सिंह पी०जी० कालेज सिंगरामऊ, जौनपुर एवं आदरणीया माताजी श्रीमती गायत्री सिंह के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपने अमिट वात्सल्य तथा संरक्षण से मुझे इस योग्य बनाया कि मैं शिक्षा के इस उच्चतर शिखर पर स्वयं को आरूढ़ करने में समर्थ बना सका। इसी क्रम में मैं अपनी सहधर्मिणी पत्नी श्रीमती श्वेता सिंह के प्रति आभारी हूँ जिनके सहयोग के बिना यह शोध प्रबन्ध पूर्ण नहीं हो सकता था। इसके साथ ही चि० पुत्र मानस एवं पुत्री मानसी का स्नेह भी इस कार्य को पूरा करने में उत्साह वर्धन किया। पुनश्च, श्वसुर श्री भगवान सिंह एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला सिंह ने भी निरन्तर प्रेरणा प्रदान करते हुए उत्साहवर्धन किया, जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इस प्रयत्न को साकार रूप देने में दर्शन विभाग के मेरे वरिष्ठ मित्र डॉ० उत्तम सिंह, डॉ० श्यामकान्त, डॉ० अमरकान्त सिंह, श्री सी० एल० चौरसिया एवं श्री प्रमोद कुमार सिंह को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शोध कार्य को पूर्ण करने में निरन्तर सहयोग प्रदान किया। मैं अपने मित्र श्री अजय कुमार सिंह, श्री राजीव दीक्षित, श्री राकेश सिंह एवं श्री शिवभगवान द्विवेदी के प्रति भी आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी शुभकामनायें सदैव साथ

रही हैं। पुनश्च, श्री सुनील कुमार सिंह, श्री संजय कुमार सिंह, श्री गदाधरनाथ उपाध्याय, श्री कुबेरनाथ सिंह, श्री अनिल कुमार सिंह, श्री नीरज कुमार सिंह, श्री विपिन कुमार सिंह, श्री भानु प्रताप सिंह, श्री अनिल कुमार श्रीवास्तव श्री भूपेन्द्र बहादुर सिंह, श्री शिवकुमार त्रिपाठी, श्री शिवसेवक दुबे, श्री जयप्रकाश सिंह, श्री आशुतोष सिंह, श्री अभिषेक सिंह एवं सुश्री अमिता सिंह ने भरपूर सहयोग दिया और समय-समय पर उत्साहवर्धन किया जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

मैं विभिन्न पुस्तकालयों हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, सर गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, रामनाथ कौल लाइब्रेरी, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं दर्शन पीठ इलाहाबाद के पुस्तकालाध्यक्षों एवं संचालकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य को पूरा करने में पुस्तकालयीय सहायता प्रदान की है।

अब मैं उन सुकृति विद्वानों के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना परम दायित्व समझता हूँ जिनके ग्रन्थ विचार कथोपकथन इत्यादि किसी न किसी रूप में इस शोध कार्य के सृजन में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसके साथ ही मैं 'राका पब्लिकेशन्स' के श्री राकेश तिवारी को धन्यवाद देता हुँ, जिन्होंने अपने सहयोगियों श्री जितेन्द्र कुमार मिश्र एवं श्री दिलीप कुमार कनौजिया के सहयोग से इस शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में सहयोग किया।

अन्ततः समस्त विज्ञजनों से निवेदन है कि इस शोध प्रबन्ध की सामान्य त्रुटियों को क्षमा करते हुए, इसका मूल्यांकन करेंगे।

स्थान : इलाहाबाद

दिनांक :

भवदीय

राजीव कुमार सिंह

राजीव कुमार सिंह

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्

प्रथम अध्याय १-१६

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का जीवनवृत्त

प्रो० संगम लाल पाण्डेय की अद्वैतवादी कृतियों का

कालक्रमानुसारी विवरण

द्वितीय अध्याय २०-३६

प्रो० संगम लाल पाण्डेय पर उनके समकालीन वेदान्तियों का प्रभाव

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का समकालीन अद्वैतवाद में स्थान

तृतीय अध्याय ४०-६६

अद्वैत दर्शन की प्रणाली का पुनर्गठन

प्रातिभज्ञान या स्वानुभूति का उज्जीवन

ज्ञान और इच्छा के क्रम समुच्चय का विवेचन

चतुर्थ अध्याय ७०-६८

अद्वैत वेदान्त की तर्कना-पद्धति

तर्क की अप्रतिष्ठितत्व दोष से प्रतिरक्षा

शंकराचार्य के प्रसंगानुमान

पंचम अध्याय ९९-१५९

अद्वैत वेदान्त में प्रो० संगम लाल पाण्डेय की नूतन उद्भावनायें--

(क) 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के स्थान पर 'व्यवहारे तु गांधी नयः'

(ख) 'नेति-नेति' के मूल में 'इति-इति' की स्थिति

(ग) माया का तार्किक संभावना के रूप में वर्णन

(घ) आहार्यज्ञान का सिद्धान्त

(च) स्फोटवाद से अद्वैतवाद का अविरोध

(छ) अद्वैत मुक्तिवाद का सामाजिक विनियोग

(ज) विज्ञान दर्शन और अद्वैतवाद

षष्ठम् अध्याय १६०-२०५

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का लोकायन दर्शन

सप्तम् अध्याय २०६-२१९

समीक्षात्मक उपसंहार

परिशिष्ट : सहायक ग्रन्थ सूची २२०-२२५

प्रथम अध्याय

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का जीवनवृत्त

प्रो० संगम लाल पाण्डेय की अद्वैतवादी कृतियों का कालक्रमानुसारी विवरण

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का जीवनवृत्त

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का जन्म १२ जुलाई, १९२९ ई० को एक सनातनी सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में इलाहाबाद जनपद के सोराँव तहसील के सम्हई ग्राम में हुआ था। उनके पिता पण्डित मातागुलाम पाण्डेय और माता श्रीमती सरस्वती देवी परम वैष्णव थे। उनकी शिक्षा प्रारम्भ में अपने नाना की संस्कृत पाठशाला में उनके शैशव काल में हुयी, जहाँ उन्हें श्रुति परम्परा के द्वारा बिना वर्णमाला ज्ञान के संस्कृत के कुछ सूत्र और श्लोक कण्ठस्थ कराये गये। किन्तु उनकी विधिवत् शिक्षा अपने गाँव की प्राथमिक पाठशाला में हुयी, जहाँ से उन्होंने कक्षा चतुर्थ उत्तीर्ण करके अपने पड़ोसी गाँव फतेहपुर कायस्थान के मिडिल स्कूल से जूनियर हाईस्कूल छात्रवृत्ति सहित प्रथम श्रेणी में १९४३ ई० में उत्तीर्ण किया। उन्होंने हाईस्कूल परीक्षा १९४७ ई० में आनापुर के इन्द्रबास कुमारी मेमोरियल हाईस्कूल से, चार विषयों में विशेष योग्यता के साथ पूरे उत्तर प्रदेश में सातवाँ स्थान पाकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय १९४७ ई० में इलाहाबाद आ गये और राजकीय उच्चतर विद्यालय में पढ़ने लगे। वहीं से १९४९ ई० में उन्होंने इण्टरमीडिएट परीक्षा प्रथम श्रेणी में तीन विषयों में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण की और पूरे प्रदेश में योग्यता सूची में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी प्रतिभा के अनुसार यह प्रथम सम्मान था। उनके लिए महत्व केवल योग्यता छात्रवृत्ति का था जिससे वे अपनी पढ़ाई चलाते थे। भगवत्कृपा से वह उन्हें १९४३ ई० से लेकर १९५३ ई० तक निरन्तर और उत्तरोत्तर सम्मान तथा मात्रा में वृद्धि के साथ मिलती रही।

इलाहाबाद आने पर उनके जीवन पर शहरी वातावरण ने किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं डाला। वे और अधिक परिश्रम से माँ सरस्वती की आराधना में जुट गये। १९४९ ई० में उन्होंने

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और डा० अमरनाथ झा, पं. क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, प्रो० अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, प्रो० रामनाथ कौल, प्रो० उदित नारायण सिंह, प्रो० एस० सी० देव, डा० ईश्वरी प्रसाद, डा० दक्षिणा रंजन भट्टाचार्य, डा० ताराचन्द, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० राम कुमार वर्मा, प्रो० जे० के० मेहता, श्री रघुपति सहाय फिराक प्रो० के० के० भट्टाचार्य आदि प्रोफेसरों के जीवन्त सम्पर्क में आये। १६५१ ई० में बी० ए० में उन्हें सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान मिला और प्रथम श्रेणी के साथ संस्कृत और दर्शन विषय में उन्होंने सर्वाधिक अंक प्राप्त किये। इस कारण उन्हें कई स्वर्ण पदक भी मिले। उन्होंने एम० ए०- दर्शनशास्त्र की परीक्षा १६५३ ई० में प्रथम श्रेणी और प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें पुनः कई स्वर्ण पदक प्राप्त हुये। इस प्रकार प्रो० संगम लाल पाण्डेय का विद्यार्थी-जीवन बहुत ही सफल रहा। विश्वविद्यालय के अध्ययन काल में ही उन्होंने राजकीय संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी से मध्यमा, शास्त्री और साहित्याचार्य की परीक्षाएँ छात्रवृत्ति सहित प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

एम० ए० उत्तीर्ण करते ही अगस्त १६५३ ई० में उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त किया गया। इस पद से प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने जो कार्य किये वे सचमुच सभी प्रवक्तताओं के लिए अनुकरणीय है। वे विशुद्ध अध्यापक थे। अध्यापक होते ही उन्होंने अध्यापक के सदाचार का निष्ठापूर्वक पालन किया। डा० ताराचन्द ने उनसे कहा था -"अध्यापक को दो ब्रत लेना चाहिए। पहला, मैं यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा और यदि विवाहित हूँ तो यावत् जीवन एक पत्नी ब्रती रहूँगा और दूसरा, जीवन में ऐच्छिक गरीबी का पालन करूँगा।" प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने कृतज्ञता-पूर्वक इन व्रतों को स्वीकारा और जीवन पर्यन्त इनका पालन किया। उन्होंने वर्ष १६७३ से १६७६ ई० तक रीडर पद पर कार्य किया तत्पश्चात् १६८० ई० में उन्हें प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष बनाया गया, जहाँ से उन्होंने ३० जून, १६६० ई० में अवकाश ग्रहण किया और उसी वर्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली ने उन्हें ऐमिरिटस प्रोफेसर बनाया।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के जीवन का राजनीतिक पहलू भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस क्षेत्र में वे वर्टेण्ड रसेल से अद्भुत साम्य रखते हैं। वर्टेण्ड रसेल ने दो बार पार्लियामेन्ट के सदस्य के लिए चुनाव लड़ा और दोनों बार असफल रहे। प्रो० पाण्डेय ने भी एक बार लोकसभा (१९६९ ई०) और दो बार विधानसभा (१९६२ ई०, १९६७ ई०) का चुनाव लड़ा। यद्यपि तीनों बार रसेल के समान ही उनकी गति रही किन्तु इन चुनावों के बाद उनमें जो राजनीतिक सूझ-बूझ विकसित हुई वह बिरले लोगों में ही देखने को मिलती है। वे राजनीति-दर्शन के एक समर्थ प्रवर्तक के रूप में उभर गये और उनका दर्शन लोकायन दर्शन के नाम से विख्यात हुआ।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपना सम्पूर्ण जीवन अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान, लेखन, समाज सेवा, दार्शनिक संस्थाओं के निर्माण और दार्शनिक पत्रिकाओं के प्रकाशन में समर्पित कर दिया। उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं में विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है। उन्होंने आरम्भ में 'दार्शनिक त्रैमासिक' का सम्पादन किया, 'नीति भारती', 'जिज्ञासा', 'इलाहाबाद दर्शन सीरीज', 'रिव्यू आफ दर्शन' तथा 'संदर्शन' का सम्पादन कार्य करते हुए दर्शन को नवजीवन प्रदान किया। प्रो० संगम लाल पाण्डेय के व्यक्तित्व का एक पक्ष संगठनात्मक शक्ति भी है। दर्शन को जीवित और जागृत करने के लिए उन्होंने 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद', 'उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद' तथा 'दर्शन पीठ' की स्थापना की। दर्शन जगत इन संगठनों और परिषदों के द्वारा आज अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। इसके अतिरिक्त प्रो० संगम लाल पाण्डेय के नेतृत्व में १९८८ ई० में दर्शन विभाग को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली ने विशिष्ट सहायता का विभाग (D.S.A.) बना दिया। बाद में यहाँ के ऐकेडमी स्टाफ कालेज में दर्शनशास्त्र के विशिष्ट प्रशिक्षण की व्यवस्था करके विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने दर्शनशास्त्र के महत्वपूर्ण गौरव में चार चाँद लगा दिये। यह सब कुछ प्रो० संगम लाल पाण्डेय के प्रयास का ही प्रतिफल था। यही नहीं उनकी प्रशासनिक क्षमता को देखकर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० उदित नारायण सिंह ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय छात्रावास का निदेशक (१९८१-१९८३ ई०) तथा स्नातकोत्तर सांध्यकालीन कक्षाओं का निदेशक (१९८१-१९८७ ई०) नियुक्त किया इन दोनों पदों पर रहकर उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये तथा अनेक छात्रों और अध्यापकों को लाभ पहुँचाया। इसी प्रकार कुलपति प्रो० वहीदुद्दीन मलिक ने उन्हें संकट की घड़ी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के

पुस्तकालय का अवैतनिक लाइब्रेरियन (१६८८-१६८६ ई०) नियुक्त किया। इस पद से प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में जो सुधार किया तथा उसकी कार्यक्षमता में जो वृद्धि दिखाई उससे सभी सम्बन्धित लोग प्रभावित हुए।

शोध के क्षेत्र में प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने नए प्रतिमान स्थापित किये। उन्होंने स्वयं 'प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी' पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उनके इस ग्रन्थ की मान्यता पूरे विश्व में उन सभी स्थानों पर है जहाँ अद्वैत वेदान्त का प्रगाढ़ अनुशीलन होता है। उनके निर्देशन में बारह शोध प्रबन्ध डी०फिल० उपाधि के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किया गया है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के कृतित्व और लेखन का स्वतन्त्र इतिहास रहा है जो उनके पचास वर्षो से दर्शन में की गयी सेवाओं के रूप में परिलक्षित होता है। उनकी कृतियों का क्षेत्र बहुत व्यापक और सघन है। तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा, समाजदर्शन, राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, धर्मदर्शन, साहित्य, कला आदि विषयों पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह विचारोत्तेजक तथा मौलिक है। उनकी रचनाओं में पचास के दशक से लेकर अस्सी के दशक तक के भारतीय चिन्तन की प्रगति का एक सुस्पष्ट बिम्ब देखने को मिलता है। परन्तु उनका कृतित्व समाज का दर्पण मात्र ही नहीं है अपितु समाज सुधारक तथा नवयुग का संदेश वाहक भी है। उनकी लगभग पच्चीस पुस्तकें हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषा में दर्शनपीठ इलाहाबाद से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त उनके कुछ ग्रन्थ उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद तथा अन्य प्रकाशनों से भी प्रकाशित हैं। उनके अनेक महत्वपूर्ण निबन्ध अनेक ग्रन्थों में अन्य लेखकों के निबन्धों के साथ संग्रहीत हैं। इन सबके अतिरिक्त उनके बहुत से शोध निबन्ध हिन्दी और अंग्रेजी की अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रकार प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपनी रचनाधर्मिता और प्रयोगधर्मिता द्वारा दर्शन जगत की एक लम्बी सेवा की। वे यावत् जीवन अद्वैतवादी रहे। यद्यपि उन्होंने अन्य दर्शनों का गंभीर अध्ययन किया तथापि उन सबका समन्वय अद्वैतवादी दृष्टि से ही किया। अपने समन्वय

के लिए वे अधिकारि-भेद, प्रस्थान-भेद, प्रौढ़िवाद, अर्थवाद यत्परः शब्दः स शब्दार्थः न्याय आदि का प्रयोग करते रहे। जैसे माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' में तथा मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थान भेद' में सभी दर्शनों का समन्वय अद्वैतवेदान्त से किया है, वैसे ही प्रो० पाण्डेय ने भी अद्वैत वेदान्त की सर्वश्रेष्ठता को उजागर किया है। अद्वैत वेदान्त की प्रतिरक्षा करते हुए उन्होंने जीवन में कभी हार नहीं मानी परन्तु जीवन के कटु सत्य अर्थात् मृत्यु से हार गये। ३० जून, २००२ ई० को उन्होंने आखिरी साँसे ली और परम तत्व में विलीन हो गये। यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं फिर भी अपनी कालजयी कृतियों द्वारा दर्शन जगत् का पथप्रदर्शन करते रहेंगे।

अन्त में प्रो० पाण्डेय का अद्वैत वेदान्त के प्रति समर्पण भाव उनके 'अद्वैत व्यू आफ गाड' ग्रन्थ में वर्णित निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त है, जिसे वे प्रायः गुनगुनाते रहते थे-

"यावज्जीवं त्रयोवन्दया वेदान्तो गुरूरीश्वरः।
आदावन्ते च विद्यायै कृतघ्नत्वापनुत्तये।।"

अर्थात् यावत् जीवन वेदान्त का अनुशीलन, गुरू और ईश्वर की वन्दना करते रहना चाहिए क्योंकि आरम्भ में इनके माध्यम से ब्रह्म विद्या की प्राप्ति होती है और अन्त में ब्रह्म विद्या के प्राप्त हो जाने पर भी इनके प्रति पूर्ववत् भाव बनाए रखना चाहिए अन्यथा कृतघ्नता का दोष होगा।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय की अद्वैतवादी कृतियों का कालक्रमानुसारी विवरण

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने सन् १९५४ से लेकर २००२ ई० तक अनेक दार्शनिक लेखों और ग्रन्थों की रचना हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत में की है। इन सबको यहीं परिशिष्ट-एक में यथा काल वर्णित किया गया है। यहाँ उनके दार्शनिक मतों का विकासात्मक प्रणाली से विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है। उनके लेखों का प्रथम संग्रह १९७३ ई० में 'ज्ञान, मूल्य और सत्' के नाम से प्रकाशित है जिसमें उनके उन मौलिक निबन्धों का संग्रह है जो १९५४ ई० से लेकर १९६९ ई० तक प्रकाशित थे। अतः इन पन्द्रह वर्षों में प्रो० संगम लाल पाण्डेय के चिंतन में विचारों का जो अंकुर फूटा, प्रकारान्तर से वह विशाल वटवृक्ष बन कर एकात्ममूल्यवाद, लोकात्मवाद, अनन्यता प्रस्थानवाद आदि के रूप में दर्शन के क्षितिज पर प्रतिष्ठापित हो गया है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के मौलिक चिंतन की विकास यात्रा का अध्ययन उनके कृतियों के माध्यम से ही किया जा सकता है। उनके दार्शनिक विचारों के विकास को हम तीन कालों में बाँट सकते हैं, जो इस प्रकार हैं-

प्रथम काल (१९५४ - १९६९ ई०)

द्वितीय काल (१९७० - १९७९ ई०)

तृतीय काल (१९८० - २००२ ई०)

अब हम एक-एक कर इन तीनों कालों में प्रो० पाण्डेय की कृतियों का काल क्रमानुसारी विवरण प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम काल

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के दार्शनिक विकास का प्रथम काल सन् १९५४ से १९६६ ई० तक मान सकते हैं। इस अवधि के दौरान उनकी एक पुस्तक १९६५ ई० में 'एक्जिस्टेंस डिवोशन एण्ड फ्रीडम : दि फिलासफी आफ रविदास' नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित हुयी साथ ही १९६८ ई० में संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी में 'नव्यं प्रयागदर्शनम्' नामक लघुग्रंथ का प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित आठ पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हुईं, जो इस प्रकार हैं-

१. स्पिनोजा का दर्शन - १९५५ ई०

२. नीति-विग्रह - १९५५ ई०

३. गीता, गांधी, नीट्शे और मार्क्स के नीतिशास्त्र - १९५६ ई०

४. गांधी का दर्शन - १९५७ ई०

५. रानडे का दर्शन - १९५८ ई०

६. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण - १९६२ ई०

७. आधुनिक व्यावहारिक मनोविज्ञान - १९६२ ई०

८. भारतीय दर्शन की कहानी - १९६४ ई०

इन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में परोक्ष या अपरोक्ष रीति से अद्वैत वेदान्त के ही विभिन्न मतों का रचनात्मक प्रभाव देखा जा सकता है।

पुनश्च इसी दौरान मुख्य रूप से कूटस्थ तत्व प्रत्यक्ष की वैधता (Perceptual Validity), और तत्वमीमांसा की अखण्डनीयता पर उनके तीन मौलिक लेख अंग्रेजी में प्रकाशित हुए तथा तत्वज्ञान की सर्वमान्यता, आत्मा का स्वभाव, अद्वैत दर्शन की प्रणाली, प्रातिभज्ञान का स्वरूप, तार्किकभाववाद की समीक्षा, बुद्धिवाद, मूल्य का स्वरूप तथा आनन्दवाद आदि दस निबन्ध 'ज्ञान, मूल्य और सत्' में संकलित किये गये। ये निबन्ध सर्वप्रथम १९५४ से लेकर १९६३ ई०

तक दार्शनिक त्रैमासिक में प्रकाशित हुए थे। यह ग्रन्थ प्रो० संगम लाल पाण्डेय के दार्शनिक चिंतन के प्रथम भाग का पर्याप्त वर्णन करता है, इसमें मुख्य रूप से उनके अद्वैतवाद का विकास हुआ है जिसका विवरण तथा मूल्यांकन हम शोध प्रबन्ध में आगे करेंगे।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय अपने दर्शन के इस भाग का वर्णन 'एकात्ममूल्यवाद' के द्वारा करते हैं तथा उसकी तीन विशेषतायें बताते हैं- पहले, यह पश्चिमी प्राचीन, आधुनिक और समकालीन दर्शन से भिन्न है और उनका खण्डन करता है; दूसरे, यह प्राचीन भारतीय दर्शनों से भिन्न है और उनमें एक स्वीकारात्मक तथा गत्यात्मक समन्वय स्थापित करता है और अन्त में, यह अन्य समकालीन भारतीय दार्शनिकों के विचारों से भिन्न है। यद्यपि समकालीन भारतीय दर्शन में अद्वैतवादी और मूल्यवादी दोनों प्रकार के दार्शनिक हैं तथापि एकात्ममूल्यवाद को मानने वाले केवल प्रो० संगम लाल पाण्डेय और उनके सहयोगी तथा शिष्य है। एकात्ममूल्यवाद के अनुसार आत्मोपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मूल्य है और यह अन्य सभी मूल्यों का निर्धारक भी है क्योंकि इससे आत्मोपलब्धि में कुछ सहायता मिलती है अर्थात जो आत्मोपलब्धि में उपकारक है, वही मूल्य है और जो इस प्रकार नहीं है वह़ अपमूल्य है। स्पष्ट है कि एकात्ममूल्यवाद के अनुसार आत्मोपलब्धि के विभिन्न स्तर हैं।

एकात्ममूल्यवाद आनन्दवाद है, फिर जो आनन्द है, वही चित् और सत् भी है। सत्, चित् और आनन्द आपस में तीन तत्व या गुण नहीं हैं अपितु वे परस्पर अनन्य हैं तथा एक और अद्वितीय सत् के ही वर्णन हैं। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपने दो गुरुओं प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे और प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी के मतों का समन्वय किया है। प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ऐसे आनन्दवादी हैं जो आनन्द के समकक्ष शुद्ध चित् को महत्व नहीं देते और प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ऐसे चित्वादी हैं जो चित् के समकक्ष आनन्द को महत्व नहीं देते हैं। चित् और आनन्द को एक और अभिन्न मानते हुए प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने इन दोनों महान दार्शनिकों को एक दूसरे से अनुकूलित किया है और दोनों दार्शनिकों के मतों में उन्होंने किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं देखा है। इसीलिए वे कहते हैं कि मैंने प्रो० रामचन्द दत्तात्रेय रानडे को प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी के दृष्टिकोण से और

प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी को प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के दृष्टिकोण से देखा है। प्रो० संगम लाल पाण्डेय के अनुसार ऐसे वैचारिक समन्वय अद्वैत वेदान्त में भरे पड़े हैं। विशेष रूप से आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय किया है, उसी के आधार पर प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने 'मधुसूदन सरस्वती के अद्वैतवाद' पर अपने शिष्य डा० ब्रजेन्द्र सिंह द्वारा शोध करवाया, जिस पर उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली। इसी समन्वय को उन्होंने 'भारतीय दर्शन की कहानी' नामक ग्रन्थ के अन्त में भी दिया है और यह माना है कि मोटे तौर से गोस्वामी तुलसी दास और उनका रामचरित मानस इस समन्वय को निरन्तर प्रचारित करते आये हैं।

ज्ञान, मूल्य और सत् में सम्मिलित प्रमुख लेखों का संक्षिप्त वर्णन देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा, जो इस प्रकार है-

ज्ञान, मूल्य और सत् के प्रथम दो निबन्ध- तत्व ज्ञान क्या है? और तत्वज्ञान के तीन संप्रत्यय हैं प्रो० पाण्डेय के अनुसार तत्त्वज्ञान अथवा दर्शन न तो विश्व के पदार्थों का ज्ञान है, न ज्ञान का ज्ञान और न भाषा का विश्लेषणात्मक ज्ञान, अपितु वह साधन है जिसके द्वारा सभी वस्तुओं का सारभूत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में, वह समस्त ज्ञानों का एक समुच्चय है।

विश्व के दर्शनिकों नें तत्त्वज्ञान के तीन सम्प्रत्यय स्वीकार किये है। प्रथम सम्प्रत्यय के अनुसार तत्त्वज्ञान को सत् की खोज होना चाहिए। सृष्टि विज्ञान अथवा मूलतत्त्व की खोज इसी सम्प्रत्यय के अन्तर्गत आते हैं। अधिकांश भारतीय एवं यूनानी दार्शनिक इसी सम्प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। भारतीय दार्शनिकों में आसुरि, दिङ्गनाग, धर्मकीर्त्ति एवं गंगेश तथा पाश्चात्य दार्शनिकों में काण्ट और उसके अनुयायियों ने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वज्ञान स्वीकार किया है। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिकों में भर्तृहरि आदि तथा आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में विटगिन्स्टाइन आदि ने भाषा विश्लेषण को तत्त्वज्ञान स्वीकार किया है। इस प्रकार तत्त्वमीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और अर्थ-मीमांसा इन तीनों सम्प्रत्ययों में तत्त्वज्ञान विषयक सभी सम्प्रत्यय समाहित हो जाते हैं।

पुनश्च, तार्किक प्रत्यक्षवादियों के तत्त्वमीमांसीय निरसन का उत्तर देते हुए प्रो० संगम लाल पाण्डेय कहते हैं कि प्रत्यक्ष की प्रमाणिकता युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष का आधार तर्क या प्रातिभज्ञान है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि तत्वज्ञान के वाक्यों द्वारा सूचित वस्तु न सत्य है और न असत्य, प्रत्यक्ष इस बात का नहीं होता, वह वस्तु घोषित करता है न कि वाक्य। दर्शन निराकर्ता अपने इस वाक्य का प्रत्यक्ष नहीं करते वरन् अनुमान करते हैं। अतएव उनकी कसौटी यहाँ विफल हो जाती है। उनका यह निष्कर्ष भी सावद्य है कि जो न सत्य है और न असत्य वह व्यर्थ है। यदि कोई सत्य नहीं, असत्य नहीं, सत्यासत्य दोनों नहीं, दोनों में से कोई एक नहीं (अनुभय) है तो इसका मतलब है कि वह पंचम कोटि में है। यह कोटि शून्यता की है। वर्तमान प्रत्यक्षवादियों का तर्क इसी से असंगत हो जाता है कि वे नागार्जुन के उभय और अनुभय विकल्प का परित्याग कर देते हैं।[२]

प्रो० पाण्डेय प्रत्यक्ष की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि प्रत्यक्ष के भी विषय वितथ हैं। किन्तु प्रत्यक्ष के विषय वितथ नहीं होते, वितथ होते हैं भ्रम, प्रतिभास एवं स्वप्न के विषय, और ये तीनों प्रत्यक्ष नहीं हैं। उन्होंने लाक और काण्ट की ज्ञानमीमांसा को भी तत्वज्ञान माना है। अपने समर्थन में उन्होंने वैहिंगर का मत उद्धृत किया है। पुनश्च वे भाषा-विश्लेषण को भी तत्वज्ञान के ही अन्तर्गत रखते हैं और प्रतीत्य समुत्पाद को भी। उनका निष्कर्ष है कि तत्वज्ञान वह है जिसके द्वारा सब वस्तुओं का सारभूत ज्ञान मिल सकता है। वास्तव में 'तत्व' शब्द भी तत्वज्ञान के बढ़ते हुए अर्थ के साथ तीन अर्थ धारण कर लेता है - तत्व सत् है या सत् तत्व है, यह तत्व का पहला अर्थ है जो तत् और त्व से बनता है तथा जो प्रत्येक ज्ञान का या वाक्य का उद्देश्य है। तत् सत् का ही नाम है या सत् का संकेत है। फिर तत्व का अर्थ ज्ञान, संवित् या चित् भी हो जाता है जो ज्ञानमीमांसा के अनुसार एक मात्र सत् है। इस चित्-तत्व में सत् का नाश नहीं हुआ है। उलटे इसमें सत् का चित् से तादात्म्य या आत्मसात्त्व हुआ है। जब सत् स्वप्रकाश हो जाता है तब वह ज्ञान या चित् हो जाता है। फिर अन्त में तत्व उस अर्थ के रूप में आता है जिसमें, या जिसके, या जिसके लिए या जिससे सत् और ज्ञान है। तत्व के इस अर्थ

में सत् और ज्ञान दोनों का पूर्ण तादात्म्य होता है। सामान्यतः भारतीय दार्शनिक तत्व को इसी अर्थ में लेते हैं।

'बुद्धिवाद : बहुमूल्यता विषयता' नामक लेख में बुद्धि के स्वरूप एवं कार्यों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। इसमें प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने बुद्धि को ज्ञान का मौलिक या प्राथमिक साधन माना है। वह लोकज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती है अपितु वह मानव चेतना का लक्षण है और इस कारण मानव चेतना से उसका अपरिहार्य सम्बन्ध है। काण्ट ने बुद्धि को प्रत्यक्ष के बिना साधनहीन स्वीकार किया था। इस सन्दर्भ में प्रो० पाण्डेय ने स्पष्ट किया है कि वस्तु के अर्थ को जानना वास्तव में उस अर्थ या प्रयोजन को जानना है जिसका वह अधिष्ठान है। उनके अनुसार "ज्ञान प्रत्यक्ष तथा कथन के प्रमाणीकरण का एक मात्र आधार बुद्धि गोचरता है।"[३]

सत्यता के कई स्तर हैं जो व्यावहारिक सत्यता से लेकर पारमार्थिक सत्यता तक बुद्धिगम्य है। प्रो० पाण्डेय ने सत्यता के जिन आठ स्तरों को गिनाया है वे सभी अनन्यता प्रस्थान को स्वीकार्य है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् किसी शब्द अथवा वाक्य का जो तात्पर्य सन्दर्भ और उपयोगी सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होता है वह सत्य है। इस नियम के अनुसार पारमार्थिक सत्यता को मानते हुए अन्य लौकिक सत्यों को स्वीकृति तर्कतः संभव है। पुनश्च तार्किक बहुमूल्यता के जिन दस प्रकारों (सत्यता, प्रायिकता, यथार्थता, व्यवहार्यता, अप्रायिकता, सम्भावना, अयथार्थता, असत्यता, अव्यवहार्यता और असम्भावना) का वर्णन प्रो० पाण्डेय ने किया है।[४] उससे सिद्ध होता है कि ज्ञान के जो अनन्त विषय हैं उनकी तार्किक मूल्यता भिन्न-भिन्न है। उनका यह मत आधुनिक बहुमूल्यीय तर्कशास्त्र (Many Value Logic) के निकट है जो सत्य और असत्य मात्र इन दो तार्किक मूल्यों को अपर्याप्त पाता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि उनकी शोध छात्रा डा० आशा जैन ने 'बहुमूल्यीय तर्कशास्त्र और जैन तर्कशास्त्र का तुलनात्मक अनुशीलन' पर डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की है। प्रो० पाण्डेय स्वयं मानते हैं कि अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध मत के अनेक सिद्धान्त बहुमूल्यीय तर्कशास्त्र के अनुसार हैं।

बहुमूल्यीय तर्कशास्त्र का प्रमुख आधार निषेध की व्याख्या है जो अनेक प्रकार से अद्वैत वेदान्त में की गयी है। जब निषेध की व्याख्या केवल मध्यम परिहार नियम के द्वारा अथवा उभयनिषेध नियम के द्वारा की जाती है और उभय निषेध के सिद्धान्त को गलत नहीं माना जाता तब द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र का अवकाश है। यदि ये दोनों मत ठीक नहीं हैं तो द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र अपर्याप्त है। कुछ भी हो निषेध की व्याख्या में प्रो० पाण्डेय ने बहुत कुछ नवीन चिंतन किया है जो उनके 'ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न' ग्रन्थ में बर्णित है, उसका विचार हम अन्यत्र करेंगे।

'प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप' विषयक लेख के अन्तर्गत प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के मत की तर्कसंगत समीक्षा किया है तथा प्रातिभज्ञान को प्रामाणिक एवं तर्क तथा प्रत्यक्ष की आधारभित्ति के रूप में स्वीकार किया है। साथ ही साथ प्रातिभज्ञान को देकार्त के शब्दों में अपरोक्ष मानते हुए समस्त भ्रमों का निवारक तथा आत्म-ब्रह्म तादात्म्य रूप एक सत्ता का बोधक स्वीकार किया है। जिसकी पराकाष्ठा आत्मबोध अथवा ब्रह्मात्मैक्यबोध में होती है। प्रो० पाण्डेय ने प्रातिभ ज्ञान को 'इदम्', 'किम्' और 'तत्' अथवा 'तथता' के त्रिक में प्रस्तुत किया है और कहा है कि तत्व का ज्ञान इसी से होता है। इसीलिए उसको अन्तर्दृष्टि (Vision) कहा जाता है। इसमें 'इदम्' पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है किन्तु इसमें 'किम्' का निराकरण हो जाता है और उसके स्थान पर जो सत्य है तथा जिसके लिए 'किम्' के नाना अर्थ प्रयुक्त होते हैं, वह विद्यमान रहता है। ब्रैडले, हेगल आदि दार्शनिक उस सत्य के सभी 'किम्' अर्थों को समेटते हुए अपना दर्शन देते हैं किन्तु अद्वैतवादी और शून्यतावादी उन सारे अर्थों का निराकरण करके, जो सत्य पूर्ण रूप से 'इदम्' बन जाता है उसे मानते हैं।

इसी संदर्भ में प्रो० पाण्डेय ने 'ज्ञान में साक्षात्व' का विशद् विवेचन किया है। उनके अनुसार समस्त दर्शनों का अर्थवा विद्याभ्यास का लक्ष्य समग्र दृष्टि को प्राप्त करना है। यह समग्र दृष्टि ही अन्तर्दृष्टि कही जाती है। अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान है, इसे ही अपरोक्ष अनुभव, सद्यः अनुभव, साक्षात् अनुभव या भावना भी कहा जाता है। यह प्रातिभ ज्ञान सृजनात्मक कला मात्र ही नहीं है अपितु स्वयं साक्षात् आत्मा है। अपरोक्षता प्रातिभ ज्ञान का लक्षण है जिसमें या तो भेद-बुद्धि अथवा सम्बन्ध ज्ञान का उदय ही

नहीं हुआ है अथवा उदित भेद-बुद्धि या सम्बन्ध ज्ञान का विलय हो कर एकाकारता की अनुभूति होती है। ऐसी दशा में स्वयं आत्मा के ज्ञान और उसकी सत्ता का एकीकरण हो जाता है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार अपरोक्ष अनुभव कोई अवस्था नहीं है, वह आत्मज्ञान मे वैसे ही है, जैसे अनात्म ज्ञान में है। आत्मा अनात्मा का भेद भी अपरोक्ष अनुभव की भूमिका में ही होता है। इसी कारण अपरोक्ष अनुभव को आत्मा या अनात्मा से एकीकृत नहीं किया जा सकता। शांकर वेदान्त 'तत्' के अनुभव को, 'तत्' के प्रत्यक्ष को अपरोक्ष मानता है क्योंकि इसकी अपरोक्षता स्वयंप्रकाश आत्मा की अपरोक्षता है-

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्चते चेत्तदुच्यताम्।

स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः।।[५]

'अद्वैत-दर्शन की प्रणाली' लेख में प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने दर्शन-प्रणाली का धर्म-प्रणाली से भेद करते हुए सिद्ध किया है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली धर्म की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकरण में उन्होंने नागार्जुन के द्विकोटिक न्याय एवं एक कोटिक न्याय को स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य दार्शनिकों पाइरो, ह्यूम, काण्ट, देकार्त एवं स्पिनोजा के संशयवाद एवं युक्ति-वाद की प्रातिभ ज्ञानवाद के साथ तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत किया है। प्रो० पाण्डेय ने स्पष्ट तौर पर कहा है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली में अनुभव यौक्तिक है और युक्ति आनुभविक है। अनुभव और युक्ति को श्रुति सम्मत होना चाहिए और श्रुति को आनुभविक और यौक्तिक। यदि अनुभव और युक्ति श्रुति सम्मत नहीं है तो कोई विशेष क्षति नहीं है। पर श्रुति को अवश्य अनुभव तथा युक्ति के अनुकूल होना चाहिए अन्यथा अनर्थ की संभावना होती है। दूसरे शब्दों में अद्वैत प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति तथा अनुभव है।[६] अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अंधविश्वास है। अद्वैत दर्शन की प्रणाली का अध्ययन हम इसी शोध प्रबन्ध में आगे 'अद्वैत प्रणाली का पुनर्गठन' नामक अध्याय के अन्तर्गत करेंगे।

'आत्मा का स्वभाव' शीर्षक लेख के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। प्रो० पाण्डेय ने आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में उठाये गये सभी पक्षों को

उपस्थित करके उनकी आलोचना की है और स्वीकार किया है कि आत्मा न पुत्र है, न शरीर, न इन्द्रिय संघात, न प्राण और न मन है। वह बुद्धि भी नहीं है। उसे आनन्द और शून्यता के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, अपितु वह ब्रह्म रूप है, ब्रह्म से अभिन्न है, वही सर्वस्व है। आगे प्रो० पाण्डेय ने कहा है कि आत्मा निरपेक्ष सत् है, अन्य सभी वस्तुएँ सापेक्ष सत् हैं क्योंकि उनका मूल, प्रतिष्ठा और अन्त आत्मा में है। आत्मा ब्रह्म है, ब्रह्म ही सर्वस्व कहा जाता है। जो कुछ भी है वह ब्रह्म है, इस अर्थ में आत्मा ही ब्रह्म है। जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है कि चिद्रूप, असंग तथा अबाधित या अव्यभिचारी होने के कारण आत्मा निरपेक्ष सत् या ब्रह्म है। अन्त में आत्मा सत्, चित और आनन्द है। पुनश्च 'अयमात्मा ब्रह्म'[७], 'तत्वमसि'[८], इत्यादि महावाक्यों द्वारा श्रुतियों ने अनुभव और युक्ति के बल पर ही आत्मा और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया है।

'मूल्य का स्वरूप' प्रो० पाण्डेय का अत्यन्त मौलिक लेख है। इसके अन्तर्गत उन्होंने पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए उसके नौ अर्थों की व्याख्या की है जिनमें से उन्हें छठीं व्याख्या मान्य है, जिसके अनुसार पुरुष ही अर्थ है। उन्होंने पुरुष और अर्थ में अभेद सम्बन्ध माना। यास्क और शंकर की व्युत्पत्तियों को स्वीकार करते हुए वे सत्, पुरुष और अर्थ को एकार्थक मानते हैं। यही एक मात्र वस्तु है जो स्वतः अपने में मूल्यवान है और जिसके सम्पूरण या सम्पूर्ति से इस जगत् की सभी वस्तुयें मूल्यवान हो जाती हैं। अतः यही परमार्थ है।[९] प्रो० पाण्डेय के अनुसार पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, यह चैतन्य ही पुरुषार्थ है। चैतन्य कभी पुरुषार्थ से रिक्त या वंचित नहीं है और पुरुषार्थ कभी चैतन्य से पृथग्भूत नहीं है। पुरुषार्थ का अस्तित्व वही है जो चैतन्य का अस्तित्व है और चैतन्य का ज्ञान वहीं है जो पुरुषार्थ का ज्ञान है दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ से चैतन्य का ज्ञान होता है और चैतन्य से पुरुषार्थ की सत्ता होती है। उनकी मान्यता है कि ब्रह्म सर्वव्यापी है, पुरुष सर्वपूरक है क्योंकि जो सबका पूरक हो, वही पुरुष है। इस प्रकार ब्रह्म और पुरुष एकार्थक हैं। ब्रह्म अहेय और अनुपादेय होता हुआ भी पुरुषार्थ है क्योंकि वह सभी प्रकार के दुःखों का नाश है।[१०] इसके अतिरिक्त प्रो० पाण्डेय ने मूल्यों की प्रकारता एवं मूल्यों के तारतम्य का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो कि बहुत ही उपयोगी है। इस लेख का

महत्व इस बात से भी है कि प्रो० पाण्डेय ने काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष एवं भक्ति के साथ 'शक्ति' को भी पुरुषार्थ मानते हुए कुल छः पुरुषार्थो का समन्वय किया है और मोक्ष को समस्त मूल्यों का सार माना है फिर उन्होंने स्वतन्त्रता और ब्रह्म को एकार्थक मानते हुए 'स्वतन्त्रता का मूल्य' कहा है। अंतिम प्रकरण में प्रो० पाण्डेय ने बौद्धिक युक्तियों द्वारा आनन्दवाद का प्रतिपादन 'आनन्द तत्व' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। साथ ही उन्होंने आनन्द के स्वरूप पर आठ निष्कर्ष दिया है कि आनन्द परम् प्रेमास्पद के रूप में वेद्य है, आनन्द ही बोध है, अपरोक्षानुभूति है। सत् और ज्ञान भी आनन्द में अन्तर्भूत हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ज्ञान, मूल्य और सत् नामक ग्रन्थ में प्रो० संगम लाल पाण्डेय का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि एक मात्र आत्मा ही सद् वस्तु है, वही प्रतिभज्ञान और मूल्य है। यह सिद्धान्त एकात्ममूल्यवाद है, जिसकी स्थापना प्रातिभ ज्ञान तथा उसके विश्लेषण से होती है, यही इसकी विधि है।

द्वितीय काल

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के दार्शनिक विकास का द्वितीय काल सन् १९७० से लेकर १९७९ ई० तक माना जा सकता है। इस काल के अन्तिम वर्ष में उन्होंने 'संदर्शन' (Sɜmdarsana) का एक नया सम्प्रत्यय प्रदान किया और उसमें उन्होंने सिद्ध किया कि संदर्शन दर्शनशास्त्र को जिस नूतन ढंग से प्रस्तुत करता है, वह 'पुनर्गठनवाद' या 'पुनः संरचनात्मक विधि' (Reconstructionism) है। इस विधि के द्वारा आधुनिक विज्ञान दर्शन का प्रयोग करते हुए प्रत्येक भारतीय दर्शन का पुनर्गठन विश्व भर में भारतीय दर्शन के विद्वान कर रहे हैं। कोई भौतिकवाद का, कोई वेदान्त का, कोई बौद्ध मत का, कोई जैन मत का, कोई न्याय दर्शन का, कोई तंत्रशास्त्र का और कोई व्याकरण दर्शन का जो नवीनीकरण कर रहा है, वह सब पुनर्गठनवाद के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस प्रकार अखिल भारतीय दर्शन परिषद के १९७९ ई० के अधिवेशन में अध्यक्ष पद से प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने जो व्याख्यान दिया, वह अत्यन्त मौलिक है, जिसका शीर्षक है - 'नव्य दर्शन की ओर'।

यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो इस 'नव्य दर्शन' का उद्भव १९६२ ई० में ही प्रो० पाण्डेय ने कर दिया था। उस वर्ष प्रो० के० सच्चिदानन्द मूर्ति के सम्पादकत्व में अखिल भारतीय दर्शन परिषद ने 'समकालीन भारतीय दर्शन' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें प्रो० पाण्डेय का 'समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद' नामक लेख सम्मिलित है। यद्यपि इसमें उन्होंने स्थूल रूप से प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, डा० डी० एम० दत्ता और डा० पी० टी० राजू की प्रत्ययवादी मौलिक उद्भावनाओं का विवरण तथा मूल्यांकन किया है तथापि सूक्ष्म रूप से उन्होंने भारतीय दार्शनिकों के तुलनात्मक तथा सृजनात्मक दर्शन का निरूपण पुनर्गठनवाद की रीति से ही किया है। पुनश्च, १९७६ ई० से प्रो० पाण्डेय ने 'संदर्शन' नामक जिस वार्षिक पत्रिका का सम्पादन बीस वर्षों तक किया और जो आज भी चल रही है, उसका घोषित कार्यक्रम पुनर्गठनवाद की विधि द्वारा प्रत्येक दार्शनिक समस्या की नवीन संरचना ही है।

इन सभी प्रवृत्तियों को संकलित कर के प्रो० पाण्डेय ने अंग्रेजी में १९७८ ई० में 'ह्विदर इण्डियन फिलासफी : एस्सेज आन इण्डियन एण्ड वेस्टर्न इपिस्टिमोलाजी' नामक एक मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसकी समीक्षा में वेदान्ती फादर आर० डेसमेट ने उसको वर्तमान भारत की एक श्रेष्ठ मौलिक कृति घोषित किया है। यह ग्रन्थ पाँच भागों में है, जिसमें प्रो० पाण्डेय के पच्चीस लेखों का संकलन है। ये पाँच भाग निम्नलिखित हैं -

१. भारतीय दर्शन की अनुसंधान प्रक्रिया

२. तुलनात्मक धर्म और दर्शन

३. नवीन प्रत्ययों की खोज

४. तत्वमीमांसा की अखण्डनीयता

५. अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में नूतन गवेषणायें

प्रो० पाण्डेय ने १९७४ ई० में 'प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। जिसकी अद्वैतवादी खोजो का सम्पूर्ण विश्व में आदर किया गया और उनके आधार पर अद्वैत वेदान्त की नयी संरचना का शुभारम्भ हुआ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में उनकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई -

१. समाज दर्शन की एक प्रणाली - १९७१ ई०

२. ज्ञान, मूल्य और सत् - १९७३ ई०

३. रामायण विद्या - १९७३ ई०

४. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - १९७६ ई०

५. आधुनिक दर्शन की भूमिका - १९७६ ई०

६. मूल शांकर वेदान्त - १९७९ ई०

इन सभी ग्रन्थों के विभिन्न मतों का निरूपण हम आगे विस्तार से करेंगे।

तृतीय काल

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के निजी दर्शन का विकास १९८० से लेकर २००२ ई० तक हुआ। इस काल में उनकी निम्नलिखित मौलिक रचनाओं के प्रकाशन हुए -

१. देशशक्ति चतुष्टयम् और उसका अंग्रेजी अनुवाद डायनमिक्स आफ इण्डियन फिलासफी - १९८१ ई०

२. समाज, धर्म और राजनीति - १९८१ ई०

३. अद्वैत व्यू आफ गाड - १९८६ ई०

४. वेदान्तिक सोशल फिलासफी - १९८८ ई०

५. ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न - १९९९ ई०

६. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन - २००१ ई०

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने निम्नलिखित ग्रन्थों का कुशलतापूर्वक सम्पादन भी किया है, जिनका प्रभाव अत्यन्त रचनात्मक रहा है। ये सम्पादित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं-

१. मैटीरियल्स एण्ड मोटिफ्स आफ दि फिलासोफिकल ट्रेडीशन्स आफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी - १६८१ ई०

२. प्राब्लेम्स आफ डेप्थ इपिस्टिमोलाजी - १६८७ ई०

३. पेरीनियल्स आफ कम्परेटिव फिलासफी - १६८८ ई०

४. संस्कृत वाङ्गमय का वृहद् इतिहास, दशम् भाग वेदान्त - १६६६ ई०

इन सभी ग्रन्थों में प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपने गुरुओं के मौलिक विचारों के सन्दर्भ में कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किए तथा वेदान्त के सभी प्रकारों के सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त के मतों का विकासात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इन सब में उनके जो मौलिक मत उभरे हैं, उनका विचार आगे किया जाएगा।

अंत में, प्रो० संगम लाल पाण्डेय के विचारों को समझने के लिए दो अन्य ग्रन्थों का उपयोग करेंगे। प्रथम ग्रन्थ- 'संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांक' है जो प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव और डा० रामशकल पाण्डेय के संपादकत्व में १६६० ई० में उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया। द्वितीय ग्रन्थ, अप्रकाशित है किन्तु वह प्रो० रामलाल सिंह के निर्देशकत्व में इण्डियन कौंसिल आफ फिलासोफिकल रिसर्च (I.C.P.R.), नई दिल्ली द्वारा आयोजित- प्रो० संगम लाल पाण्डेय के दर्शन के विविध पक्षों से सम्बन्धित लेखों का संकलन है। प्रो० राम लाल सिंह के सौजन्य से उसकी पाण्डुलिपि मुझे पढ़ने के लिए मिली। समाचार पत्रों में इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के तत्वाधान में पढ़े गये लेखों के प्रकाशित अंश भी मेरे द्वारा उपयोग में लाये गये हैं।

उपर्युक्त लेखों एवं ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रो० संगम लाल पाण्डेय की अनेक अन्य कृतियाँ हैं जो यहाँ परिशिष्ट-एक में दी गयी हैं। उनमें जो मौलिक विचार हैं उनका भी वर्णन प्रसंगानुसार इस शोध प्रबन्ध के अध्यायों में किया जाएगा।

सन्दर्भ

१. देखिए, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९५४ में प्रकाशित प्रो० संगम लाल पाण्डेय का लेख - परसेप्टुअल वैलिडिटी

२. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, साहित्यवाणी इलाहाबाद, १९७३, पृष्ठ ३

३. वही, पृ० ३१

४. वही, पृ० २८

५. पंचदशी, तृप्ति दीप प्रकरण २११

६. ज्ञान मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ८०

७. वृहदारण्यक उपनिषद २.५.१९

८. छान्दोग्य उपनिषद ६.८.७

९. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ९७

१०. हेयोपादेय शून्य ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेश प्रहाणात् पुरुषार्थ सिद्धेः।

शारीरक भाष्य १.१.४।

द्वितीय अध्याय

प्रो० संगम लाल पाण्डेय पर उनके समकालीन वेदान्तियों का प्रभाव

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का समकालीन अद्वैतवाद में स्थान

प्रो० संगम लाल पाण्डेय पर उनके समकालीन वेदान्तियों का प्रभाव

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने स्पिनोजा, काण्ट, महात्मा गांधी, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे और शंकराचार्य पर तथा शंकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्तियों पर पृथक-पृथक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।[1] इनमें से महात्मा गांधी और प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे उनके परमगुरु तुल्य वयोवृद्ध समकालीन हैं। स्पष्ट है कि इन दोनों महापुरुषों का प्रभाव उनके चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके कारण ही उन्होंने इन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

इनके अतिरिक्त प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपने साक्षात् गुरु प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी और प्रो० रामनाथ कौल के ऊपर भी महत्वपूर्ण निबन्ध लिखकर उनके दार्शनिक विचारों का प्रचार प्रसार किया है। प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी और प्रो० रामनाथ कौल के दर्शनों को उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में एक लघु ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसका नाम है – 'नव्यं प्रयागदर्शनम्'। दूसरे शब्दों में वे अपने इन तीनों गुरुओं के दर्शन को 'नव्यं प्रयागदर्शन' कहते हैं और इसको केन्द्र में रखकर उन्होंने इलाहाबाद की दार्शनिक विचारधारा (Allahabad School of Philosophy) की स्थापना की है जो उनके द्वारा संपादित 'Materials and Motifs of the Philosophical Traditions of Allahabad University'[2] में उभर कर मुखरित हुयी है। इस ग्रन्थ में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन के सभी अध्यापकों तथा शोधकर्ताओं के विचारों का यथास्थान वर्णन किया है। इन सबके विचारों का प्रभाव तो प्रो० पाण्डेय के निजी विचार पर नहीं पड़ा है तथापि इन सभी के विचारों को उन्होंने इलाहाबाद के नवीन दर्शन के विकास का अंग माना है। इससे उनके इतिहासकार तथा दार्शनिक

समीक्षक रूप का परिचय मिलता है। प्रो० पाण्डेय का इतिहास बोध जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही उनका अपने समकालीन दार्शनिकों के मौलिक मतों को समझने का प्रयत्न भी सारवान है। हम उन्हें इलाहाबाद के नवीन दर्शन का संस्थापक तथा विकास कर्ता मानते हैं, परन्तु हमारा प्रयास यहाँ इलाहाबाद के नवीन दर्शन का विवेचन करना नहीं है अपितु प्रो० पाण्डेय के दर्शन का अनुशीलन करना है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इलाहाबाद के नवीन दर्शन में उनका ही सबसे अधिक सारगर्भित विचार है जो एक ओर मौलिक है तो दूसरी ओर समन्वयात्मक।

चूँकि प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने उपर्युक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त अनेक अन्य समकालीन दार्शनिकों पर भी कुछ न कुछ लिखा है, इस कारण उनका भी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कुछ प्रभाव उनके चिंतन पर पड़ा है। इनमें से प्रमुख दार्शनिक हैं- श्री अरविन्द, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डा० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, प्रो० के० सी० भट्टाचार्य, डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त, डा० पी० टी० राजू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, डा० राममनोहर लोहिया, स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री, पण्डित राहुल सांकृत्यायन, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पण्डित क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, आचार्य विनोबा भावे, बाल गंगाधर तिलक आदि।

अब हम गांधी का दर्शन, रानडे का दर्शन, नव्यं प्रयागदर्शनम्, पेरिनियल्स आफ कम्परेटिव फिलासफी, प्राब्लेम्स आफ डेथ इपिस्टीमोलाजी, मैटीरियल्स एण्ड मोटिफ्स आफ दि फिलासोफिकल ट्रेडीशन्स आफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, और समाज, धर्म तथा राजनीति के आधार पर प्रो० पाण्डेय के विचारों पर प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत अध्याय में करेंगे।

गांधी का दर्शन

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने इस ग्रन्थ में गांधी के तत्ववाद और गांधी के कर्मजन्य, संघर्षजन्य और प्रयोगवादी ज्ञान के दृष्टिकोण से ज्ञानमीमांसा का निरूपण किया है। पुनश्च इसमें उस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को भी उजागर किया गया है जिसके द्वारा गांधी एक ओर सभी

भारतीय दर्शनों का समन्वय करते हैं और दूसरी ओर विश्व के सभी धर्मो के समभाव का प्रतिपादन करते हैं।

प्रो० पाण्डेय ने 'सत्य' को परम मूल्य के रूप में लिया है और गांधी के सत्य-अहिंसा समीकरण को मूल्य का लक्षण सिद्ध किया है। जो मूल्य है वह सत्य तथा हिंसा रहित है। जो असत्य है अथवा जो हिंसामय है उससे झूठ और हिंसा को बढ़ावा मिलता है, वे सब अपमूल्य हैं। गांधी जी अपमूल्य का प्रयोग नहीं करते और उसके लिए अधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु उन्होंने जिस अहिंसा शास्त्र की स्थापना की है वह वस्तुतः मूल्यमीमांसा है और उसकी विधि गांधी के शब्दों में सत्याग्रह है और प्रो० संगम लाल पाण्डेय के शब्दों में वह 'मूल्यानुसंधान की विधि' है, जिसे आत्मोपलब्धि का मार्ग कहा गया है। इसी प्रकार गांधी के एकादश व्रतों की व्याख्या को प्रो० पाण्डेय ने नयी मूल्यमीमांसा बताया है और स्वदेशी, स्वतन्त्रता तथा सर्वोदय को इस मूल्यमीमांसा के विकास के क्रमिक सोपान कहा है। स्वदेशी स्थूल है और कर्म से सम्बन्धित है। स्वतन्त्रता स्वतन्त्रेच्छा की अभिव्यक्ति है और मानव स्वतन्त्रता को सर्वोच्च नैतिक आदर्श के रूप में मानना है। अंत में सर्वोदय द्वारा समाज और व्यक्ति दोनों को शोषण से मुक्ति दिलाना है और व्यक्ति तथा समाज में स्वतन्त्रता तथा समता के समीकरण की स्थापना करना है। इस प्रकार सर्वोदय का सिद्धान्त लोकतंत्र और साम्यवाद दोनों का समन्वय करते हुए दोनों से श्रेष्ठ है।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा या ब्रह्म को जानने का मार्ग है अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया 'अध्यारोपापवादभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'[२] अर्थात् अध्यारोप और तदन्तर उसके अपवाद द्वारा प्रपंचशून्य सत् का वर्णन किया जाता है। यह ज्ञानमार्ग का प्रतिषेधक वर्णन है, यह 'नेति-नेति' का मार्ग है इसके पीछे 'इति-इति' का भी मार्ग छिपा है। गांधी की दृष्टि इसी इति-इति की प्रक्रिया पर थी। इसी को वे सत्याग्रह कहते हैं अर्थात् सत्य का शाश्वत आग्रह जो नेति-नेति के मार्ग में आद्योपान्त व्याप्त रहता है।

प्रो० पाण्डेय ने स्पष्ट किया है कि गांधी ज्ञान, भक्ति और कर्म के सहसमुच्चयवादी थे। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे की पदावली में उन्होंने यह दिखलाया है कि ये (कर्म, भक्ति और

ज्ञान) परस्पर विरोधी नहीं हैं अपितु वे एक दूसरे के व्यवच्छेदक हैं अतः उनका सहावस्थान तर्क संगत है।[3] परन्तु यह सहावस्थान, यह सहसमुच्चय जव तक विशुद्ध ज्ञान नहीं मिलता, जब तक ईश्वर का साक्षात्कार, आत्मज्ञान या हरिदर्शन नहीं होता तभी तक है। सच्चा ज्ञान मिलने पर भक्ति और कर्म छूट जाते हैं और विचारमात्र से, संकल्पमात्र से कर्म होते है। यही अकर्म से कर्म करने की स्थिति है। यही निरपेक्ष ज्ञान की अवस्था है। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले निम्नलिखित उपनिषद् मन्त्र उनकी भजनावलि में संगृहीत पाते हैं -

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे।।[4]

अर्थात्, ईश्वर का दर्शन होने पर हृदय की गाँठ टूट जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं और सभी प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

रानडे का दर्शन

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने इस ग्रन्थ में गुरुदेव रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के कृतित्व विचार तथा अनुभव का विश्लेषण तीन खण्डों- जीवन समीक्षा, दर्शन समीक्षा और ग्रन्थ समीक्षा के अन्तर्गत किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ की संपादकीय भूमिका में आचार्य रानडे के दार्शनिक क्षेत्र में किये गये योगदानों का भली भाँति मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। आचार्य रानडे ने एक ओर उपनिषद् और आरण्यक के ऋषियों की विचार पद्धतियों का तलस्पर्शी मनन किया था, वहीं दूसरी ओर मराठी संतों, हिन्दी संतों तथा कन्नड़ संतों के रहस्यवादी अनुभवों का साक्षात्कार करते हुए वर्णन किया है। वे अपने को रहस्यवादी दार्शनिक कहते थे और अपनी विचारधारा को आनन्दवाद (Beatificism)। उनके मतानुसार दुनिया के सभी श्रेष्ठ दार्शनिक सत्य दृष्टा ऋषि हैं, उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था, तत्पश्चात् अपनी वाणी में उसकी सशक्त अभिव्यक्ति की थी।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय के चिन्तन पर आचार्य रानडे के आनन्दवाद का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भारतीय दर्शनों का समन्वय आनन्दवाद के परिप्रेक्ष्य में करते हुए 'एकात्ममूल्यवाद' की प्रतिष्ठापना की। आनन्द को उन्होंने ब्रह्म या आत्मा का स्वभाव बताया है,

आनन्द कोई भावना या भाव नहीं है अपितु चित्त की शान्त अवस्था है। माण्डूक्य उपनिषद् में जिस अद्वैत तत्व को शान्त और शिव कहा गया है- शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् वही आनन्द तत्व है। वह न तो सुख-रूप है और न दुःख-रूप अपितु सुख-दुःख को समान ग्रहण करने वाला ज्ञान है। इसी प्रकार जव तक मनुष्य व्यथित या क्षुब्ध रहता है तब तक वह आत्म ज्ञान से दूर है। इसी प्रकार जब तक वह सुख या दुःख का अनुभव करता है तब तक भी, वह आत्म बोध नहीं प्राप्त कर सकता। आत्म बोध आनन्द की स्थिति है। वास्तव में आनन्द आत्मबोध की कसौटी है। सदैव आनन्द की अनुभूति जिसे होती है, वही आत्म ज्ञानी है। इस प्रकार प्रो० पाण्डेय ने जिस आनन्दवाद को अग्रसर किया है वह गुरुदेव रानडे के मत से पूर्णतया निकला हुआ है।[5]

'पेरिनियल्स आफ कम्परेटिव फिलासफी'

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने इस ग्रंथ में दो अध्याय लिखे हैं। प्रथम अध्याय में तुलनात्मक दर्शन की छहों धाराओं का विवेचन किया है। ये सभी धारायें इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा उसके पूर्व म्योर सेन्ट्रल कालेज में जीवित थी। अधिकांश लोग तुलनात्मक दर्शन को केवल तुलनात्मक सत्तामीमांसा के रूप में मानते हैं। इस भ्रम को दूर करते हुए प्रो० पाण्डेय ने विस्तार से दिखाया है कि तुलनात्मक नीतिशास्त्र, तुलनात्मक तर्कशास्त्र, तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा तथा तुलनात्मक रहस्यवाद भी प्रमुख रूप से इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बन्धित दार्शनिकों के द्वारा विकसित हुए हैं। इस प्रसंग में प्रो० ए० ई० गफ, प्रो० एच० एन रैंडिल, प्रो० जे० सी० जेनिंग्स, प्रो० आर० डी० रानडे, प्रो० ए० सी० मुकर्जी आदि का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रो० पाण्डेय ने अंतिम अध्याय में अपने विचार से तुलनात्मक दर्शन का विवेचन किया है, जिसमें तुलनात्मक दर्शन की विधि विशेष रूप से उजागर हुयी है। यह विधि केवल ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक विधि नहीं है अपितु यह एक नवीन दर्शन की संरचना करने वाली विधि है। इस विधि की संरचनात्मकता को प्रो० पाण्डेय ने 'संदर्शन की विधि' कहा है, जिसमें प्रातिभ ज्ञान और उसके आधार पर किये गये विमर्श की रचनात्मक भूमिका रहती है।

प्रो० पाण्डेय के इन मौलिक अवदानों का सही मूल्यांकन डा० ए० जे० आल्सटन ने इसकी समीक्षा में की है और कहा है- "यह ग्रन्थ उस धर्मदृष्टि को विकसित करता है जिसे पश्चिम के मनीषियों ने सभी संस्कृतियों से ऊपर उठकर प्रस्तावित किया है। उनकी यह देन आधुनिक युग के धर्म दर्शन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"[६] इससे सिद्ध होता है कि सच्चा धर्म किसी संस्कृति-विशेष से जुड़ा नहीं है अपितु वह अपने ढंग से सभी संस्कृतियों का समन्वय करता है।

प्राब्लेम्स आफ डेप्थ इपिस्टिमोलाजी

इस ग्रन्थ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना से लेकर १९५२ ई० तक के दर्शन के अध्यापकों के विचारों का सत्यता के सन्दर्भ में निरूपण है। इसमें प्रो० पी० एस० बरेल, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी तथा प्रो० राम नाथ कौल के निबन्ध हैं। प्रो० संगम लाल पाण्डेय द्वारा लिखित 'गहन ज्ञान मीमांसा का सम्प्रत्यय' नामक निबन्ध[७] इन सभी दार्शनिकों के विचारों को समझने की कुंजी है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि इलाहाबाद के दार्शनिकों ने सत्यता के निकष पर गंभीर विवेचन किया है। इस निकष का प्रभाव इलाहाबाद विश्वविद्यालय में किये गये दार्शनिक शोध प्रबन्धों में परिलक्षित हुआ है। सभी दार्शनिकों ने सत्यता को सतही दृष्टि से भिन्न करते हुए उसकी गहरायी के आयाम पर प्रकाश डाला है।

प्रो० पाण्डेय ने भारतीय दार्शनिकों की इस मान्यता पर बल दिया है कि 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'। यहाँ 'लक्षण' परिभाषा और प्रमाण दोनों से उच्च स्तरीय है। इससे स्पष्ट है कि लक्षण अथवा निकष प्रमाण की प्रागपेक्षा है। प्रो० पी० एस० बरेल के अनुसार वस्तुओं का सापेक्ष मूल्य निकष द्वारा ही निर्धारित होता है। प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अपरोक्षानुभूति को ही सत्य के साक्षात्कार के लिए सर्वोत्तम निकष मानते हैं। इसमें सामंजस्य, सत्ता से संवाद और आनन्द का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार- इलाहाबाद में जो ज्ञानमीमांसा विकसित हुई, वह विषयगत तथा विषयीगत नहीं है अथवा इन्द्रियानुभववाद तथा बुद्धिवाद नहीं है। फिर वह क्या है? इसका स्पष्ट

उत्तर है कि वह स्वतः स्फूर्त अपरोक्ष अनुभव है जो भावना से उपलब्ध होता है जिसका वर्णन पश्चिम के दार्शनिक 'प्रातिभ ज्ञान' (Intuitive Knowledge) के द्वारा करते हैं। भावना के कई स्तर तथा प्रकार हैं। अद्वय ज्ञान से लेकर परमात्मा के दर्शन तक भावना का क्षेत्र है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, पावनम्, शान्तम् और अद्वैतम् इस मार्ग के मील के पत्थर हैं।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार इलाहाबाद में जो ज्ञानमीमांसा विकसित हुई है, वह विषयगत तथा विषयीगत नहीं है अथवा इन्द्रियानुभववाद तथा बुद्धिवाद नहीं है। फिर वह क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह स्वतः स्फूर्त अपरोक्ष अनुभव है जो भावना से उपलब्ध होता है जिसका वर्णन पश्चिम के दार्शनिक 'प्रातिभज्ञान' (Intuitive Knowledge) के द्वारा करते हैं। भावना के कई स्तर तथा प्रकार हैं। अद्वयज्ञान से लेकर, परमात्मा के दर्शन तथा भावना का क्षेत्र है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् पावनम्, शान्तम् और अद्वैतम् इस मार्ग के मील के पत्थर है।

प्रो० पाण्डेय ने अन्तः प्रज्ञा को गहन ज्ञान मीमांसा का दार्शनिक औजार माना है। यह अन्तः प्रज्ञा स्पिनोजा के दर्शन में 'प्रतिभान' (Intuition), बर्कले के दर्शन में 'अन्तर्बोध' (Notion), जोखिम के दशन में 'बौद्धिक प्रतिभान' (Intellectual Intuition) इत्यादि नामों से जानी जाती है। उनकी दृष्टि में परमार्थ का ज्ञान अपरोक्षानुभूति या अन्तर्दृष्टि का विषय है, जो कि विषय और विषयी के द्वन्द्व से परे है। यहाँ प्रो० पाण्डेय पर अद्वैत वेदान्त एवं प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के अनुसार 'अनुभव' आनन्द और प्रतिभान दोनों से सम्बद्ध है जिसमें सत्ता का प्रतिभानात्मक ग्रहण और आनन्द दोनों समाहित हो जाता है। प्रो० पी० एस० बरेल के अनुसार सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् का ज्ञान किसी अन्य प्रत्यय से निगमित नहीं किया जा सकता है, इसे अपनी आत्मा में खोजना चाहिए। यह गहन अनुभव के द्वारा ही संभव है। इस प्रसंग में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अध्यात्मबोध बाह्य इन्द्रिय ज्ञान तथा नैतिक इन्द्रिय ज्ञान से भिन्न है। यह बाह्य इन्द्रिय तथा नैतिक अन्तरात्मा या अन्तःकरण से परे है। जिसको अध्यात्मबोध होता है, उसको 'सत्य संध' कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में -

"तनु तिय तनय धामु धन धरनी।
सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी।।"[९]

अर्थात् सत्यसंध विषयगत ज्ञान को तथा विषयों की उपलब्धि को तृणवत् तुच्छ मानता है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार राजा सत्य हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, स्पिनोजा, तुलसीदास, महात्मा गांधी, स्वामी करपात्री महाराज आदि महापुरुष उपर्युक्त अर्थ में सत्यसंध थे और जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है कि त्याग से ही अमरत्व की प्राप्ति होती है।[१०] इन महापुरुषों को त्याग के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति हुई और ये सभी यथार्थतः जीवन्मुक्त हैं।

मैटीरियल्स एण्ड मोटिफ्स आफ दि फिलासोफिकल ट्रेडीशन्स आफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इस ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है कि इसमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विकसित दर्शन की उपादान सामग्री और उसके निमित्त वर्णित हैं। वास्तव में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आदि रूप म्योर सेन्ट्रल कालेज था जिसमें जार्ज थीबो, प्रो० ए० ई० गफ और प्रो० जेनिंग्स जैसे भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ थे। इसकी स्थापना १८७२ ई० में हुई थी। इस ग्रन्थ की रचना १९८१ ई० में हुयी। इस प्रकार सौ वर्षों तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापकों ने जो ग्रन्थ लिखे तथा दर्शन के अनुसंधानकर्ताओं ने जो शोध निबन्ध लिखे, उन सबका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए दार्शनिक रामानन्द तिवारी ने लिखा है कि - "प्रो० संगम लाल पाण्डेय की यह कृति एक मील का पत्थर है आगे आने वाली प्रत्येक दशाब्दी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जो कुछ दार्शनिक कर्म हो रहा है, उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाना चाहिए।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ द्वारा इलाहाबाद का दर्शनशास्त्र प्रस्तुत हुआ है, जिसे हम 'नव्यं प्रयागदर्शनम्' का अग्रिम विकास कह सकते हैं। कम से कम इलाहाबाद में दर्शनशास्त्र का अनुशीलन तथा अनुसंधान करने वाले सभी छात्रों को यह गहराई से अध्ययन करने की प्रेरणा देता है और उन्हें नवीन चिन्तन की ओर उन्मुख करता है।

नव्यं प्रयागदर्शनम्

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी में 'नव्यं प्रयागदर्शनम्' नामक एक लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ लिखकर प्रो० आर० डी० रानडे के 'आनन्दवाद', प्रो० ए० सी० मुकर्जी के 'प्रत्ययवाद', तथा प्रो० आर० एन० कौल के 'साक्षात्ववाद' का युक्ति-युक्त विवेचन किया है।

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के अनुसार चरमसत्ता आनन्द है, आनन्द ब्रह्म है। ''आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति''।[११] आनन्द को परमतत्व सिद्ध करने के लिए उनके तर्कों को प्रो० पाण्डेय ने निम्न श्लोक में व्यक्त किया है -

''मानमानन्द सद्भावे नैसर्गिक्येव तत्स्पृहा।
संशोधिता मतिश्चापि एतामनुभवस्तथा।।''[१२]

अर्थात्, आनन्द के अस्तित्व में तीन प्रमाण हैं- आनन्द के लिए, नैसर्गिक स्पृहा संशोधित मति और संतों का अनुभव।

प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी के अनुसार आत्म ज्ञान और अन्य वस्तुओं के ज्ञान में, प्रथम का तार्किक पूर्वत्त्व है और इसलिए आत्मा चरमसत्य है और अनिवार्य रूप से अन्य विषय आत्मस्वरूप हैं। पुनः वे कहते हैं कि बोध सत्ता है और आत्मा का बोध से तादात्म्य है।

प्रो० रामनाथ कौल के अनुसार चरमतत्व साक्षात्व है। यह तत्व सत्, चित्, प्रवृत्ति और निवृत्ति से तादात्म्य रखता है। मानवीय अनुभव से यह बात प्रमाणित होती है कि यह साक्षात्व ही वास्तविक सत्य है।

अंत में प्रो० पाण्डेय ने दिखलाया है कि इन तीनों दार्शनिकों ने सत्ता की प्रकृति के अनुसंधान की उपेक्षा की है। इसलिए उन्होंने अपने तत्वज्ञान अर्थात् Ontology का सूत्रवत्

उल्लेख किया है। यद्यपि यहाँ उन्होंने तत्ववाद तथा तत्वमीमांसा का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है, जिसे उन्होंने अनन्यता प्रस्थान के प्रसंग में स्पष्ट किया है। प्रो० पाण्डेय ने निष्कर्ष निकाला कि चरमतत्व सत्ता है। सभी विषयों और ज्ञानों का अन्तर्भाव आनन्दानुभूति में होता है। इस भाव को निम्न श्लोक में व्यक्त किया गया है -

"आनन्दः परमं तत्त्वमतात्विकमथेतरत्।
आनन्दस्तत्वमस्तित्वं ज्ञानं चानन्दभातता।।"[१३]

इस ग्रन्थ का गौरव इस बात से आँका जा सकता है कि जर्मन दार्शनिक प्रो० बिल्हेम हाफ फास ने अपने ग्रन्थ 'इण्डिया एण्ड योरोप' में इस ग्रन्थ की निम्न पंक्ति का उद्धरण देते हुए सिद्ध किया है कि - "जैसा कि प्रो० संगम लाल पाण्डेय कहते हैं कि काण्ट और शंकर के दर्शन में केवल समानता ही नहीं, किन्तु अभेद है।"

"शंकराभिमुखः काण्टः, काण्टाभिमुखः शंकरः।"[१४]

काण्ट की दृष्टि से शंकराचार्य को देखना आधुनिक भारतीय दर्शन की वैसी ही महती उपलब्धि है, जैसी उपलब्धि शंकर की दृष्टि से काण्ट को देखना आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की उपलब्धि है। भारत और योरोप को एक करने में इस दृष्टि का महत्व बहुत अधिक है।

समाज, धर्म और राजनीति

समाज, धर्म और राजनीति प्रो० संगम लाल पाण्डेय के बारह समाज दार्शनिक निबन्धों का संग्रह है, जिसमें एक नये समाज दर्शन के बीज मिलते हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम लेख 'नव्य मनुवाद' है जिसमें मनुस्मृति के समाज दर्शन का नवीनीकृत रूप प्रस्तावित किया गया है।

'धर्म और राजनीति' तथा 'धर्म निरपेक्षता' नामक लेखों में वर्तमान भारतीय समाज की ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। धर्म और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि 'धर्म और राजनीति में अभेद सम्बन्ध है। धर्म को राजनीति से और

राजनीति को धर्म से केवल मर्यादित ही नहीं करना पड़ेगा अपितु धर्म और राजनीति का पूर्ण अभेद ही दोनों को नया जीवन दे सकता है।[१५] 'धर्मनिरपेक्षता' लेख में धर्मनिरपेक्षता के विषय में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है और कहा गया है कि धर्मनिरपेक्षतावाद वास्तव में राज्य एवं धर्म संस्थाओं के परस्पर स्वातंत्र्य का सिद्धान्त है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने 'गांधी का समाजवाद' लेख के अन्तर्गत गांधी दर्शन को आधुनिक युग की अनुपम देन माना है जिसमें एक ओर अतीत के समस्त भारतीय दर्शनों का समन्वय है तो दूसरी ओर वह एक नई मानव सभ्यता का दर्शन है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पहले रूप में वह नवराष्ट्रवाद है और दूसरे रूप में एक क्रान्तिकारी दर्शन। प्रो० पाण्डेय ने आगे लिखा है कि- 'गांधीवाद आयुर्वेद जैसा है जो इस रोग (आर्थिक असमानता) को जड़ से उखाड़ देता है।'[१६]

'लोहिया का अभेदवाद' शीर्षक लेख में उन्होंने एक नई दृष्टि का सूत्रपात किया है। उनके मत में डा० लोहिया का समाजवाद अद्वैत वेदान्त के मूल्यों से प्रभावित है जिसे 'अभेदवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। लोहिया का अभेदवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से अधिक कट्टर अद्वैतवाद है। वह अभेद का अनुसंधान व्यवहार जगत् में करता है और उस रामराज्य की स्थापना करना चाहता है जहाँ भेद, है ही नहीं। प्रो० पाण्डेय ने अन्य लेखों जैसे- जाति व्यवस्था की वर्तमान स्थिति, भारत का निर्माण युग, विधि और नैतिकता, रामराज्य का सिद्धान्त आदि द्वारा वर्तमान भारतीय जनजीवन की मूलभूत समस्याओं का समाधान देने का प्रयास किया है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि प्रो० पाण्डेय ने जिन समकालीन भारतीय और पश्चिमी दार्शनिकों के विचारों पर अपनी लेखनी चलायी है, उनको उन्होंने एक नवीन दर्शन के किसी न किसी अंश के जनक के रूप में लिया है। प्रो० पाण्डेय न तो उनके विचारों के अंध अनुयायी है और न ही अपने विचारों को उनके ऊपर थोपा है। उन्होंने उनके उन्हीं विचारों को लिया है, जो आधुनिक मानवता के दर्शनशास्त्र के लिए उपयोगी है। अतः इस दृष्टि से समकालीन दर्शन में प्रो० संगमलाल पाण्डेय के एक नवीन दर्शन के जनक के रूप में स्वीकार किया जाएगा।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का समकालीन अद्वैतवाद में स्थान

समकालीन अद्वैतवाद में प्रो० संगम लाल पाण्डेय का स्थान निरूपित करने के लिए उनके अद्वैतवाद को प्रो० कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य, श्री अरविन्द, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे और महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अद्वैतवाद से भिन्न करने की आवश्यकता है। इन पाँचों अद्वैतवादियों के प्रति प्रो० पाण्डेय श्रद्धावान हैं, उन्हें अपना गुरु मानते हैं और अपने विचारों में उनके ऋणी हैं। फिर भी वे अपने अद्वैतवाद को इन लोगों के अद्वैतवाद से भिन्न करते हैं। विभेद. का मुख्य बिन्दु- सत्, चित् और आनन्द की अवधारणा है। अद्वैत वेदान्त में परमतत्व को सच्चिदानन्द कहा गया है। सभी वेदान्ती सच्चिदानन्द को परमतत्व का स्वरूप लक्षण स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में प्रो० पाण्डेय के अनुसार तथा उपर्युक्त पाँचों वेदान्तियों के अनुसार 'परमतत्व' का निरूपण करने का प्रयास किया जाएगा।

प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी चित् को ही परमतत्व मानते हैं और सिद्ध करते हैं कि चित् शुद्ध आत्मा, चैतन्य या संवित्त है जिसके बिना कोई विषय संभव नहीं होता है फिर भी वह सभी विषयों से असंग, निर्लिप्त या अनासक्त है। प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे मानते हैं कि आनन्द ही प्रमुख रूप से परमतत्व का लक्षण है और सभी जीव आनन्द के ही अंश, प्राणन या स्पन्दन हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज स्पन्द को 'विमर्श' कहते हैं और मानते हैं कि विमर्श चित् का ही अनिवार्य गुण या विशेषण है। वे चित् और आनन्द अथवा सच्चिदानन्द को इस प्रकार परब्रह्म के रूप में ग्रहण करते हैं। चित् और आनन्द को वे शिव तथा शक्ति से भी अभिन्न करते हैं और दोनों के सामरस्य को आवश्यक मानते हैं। श्री अरविन्द सत्, चित् और आनन्द तीनों का

समन्वय करते हुए मानते हैं कि सच्चिदानन्द परमतत्व है जो अवरोह तथा आरोह करता रहता है। उसके इन व्यापारों का मूल चित् की ज्ञान शक्ति और इच्छाशक्ति का ऐक्य है, जिसे वे 'ऋत्-चित्' कहते हैं। ऋत् का विकास नैतिक व्यवस्था मे होता है, चित् का विकास वृत्तियों में होता है और उनके विकास के साथ ही साथ सत् के परिणाम या विकास वस्तुओं में होते हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति स्वयं सच्चिदानन्द रूप है, क्योंकि सभी विषय वस्तुयें या वृत्तियाँ प्रकृति से अनन्य हैं और प्रकृति चेतन है, इसलिए प्रकृति ही ब्रह्म है। यहाँ उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने भी कहा था कि यदि प्रकृति चेतन और स्वतन्त्र है तो वह हमारे लिए ब्रह्म ही है। स्पष्ट है कि श्री अरविन्द ने सत् चित् और आनन्द का समुच्चय किया है। श्री अरविन्द के विपरीत प्रो० कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य मानते हैं कि सत् चित् और आनन्द में विकल्प है अर्थात् ब्रह्म या तो सत् है या चित् है या आनन्द है। वह तीनों एक साथ नहीं है। सत् चित् और आनन्द में समुच्चय नहीं है।

वास्तव में सत्, चित् और आनन्द के मध्य न तो अभेद है और न समुच्चय, न विकल्प है और न आपादन। प्रो० पाण्डेय क़हते हैं कि ये सभी सम्बन्ध विषयगत हैं और विषयों के बारे में सत्य है किन्तु वे आत्मा या चैतन्य के बारे में सत्य नहीं है। इस प्रकार जैसे राधेय-कौन्तेय न्याय के अनुसार राधेय और कौन्तेय में अभेद है वैसे सत् और चित् में या चित् और आनन्द में या सत् और आनन्द में अभेद नहीं है। इसी मत को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि- 'मैं भेद का निराकरण करता हूँ तथा अभेद का प्रकथन नहीं करता।'[39]

पुनश्च सत्, चित् और आनन्द में विकल्प मानने से सत् ब्रह्म, चित् ब्रह्म और आनन्द ब्रह्म इन तीन अपरोक्ष अनुभवों की खण्ड वृत्ति या विषय मानना पड़ेगा। अतः यद्यपि प्रो० पाण्डेय मानते हैं कि सत् ब्रह्म है, चित् ब्रह्म है, आनन्द ब्रह्म है तथापि वे शब्द बुद्धि कर्मणाम विरम्य व्यापाराभावः, इस न्याय से मानते है कि सत् ब्रह्म है, चित् ब्रह्म है, आनन्द ब्रह्म है, यह अनुभव जिस बुद्धि या वृत्ति से होता है, वह अपना व्यापार सम्पन्न करके उपशान्त हो जाती है। इस प्रकार इन अनुभवों में विकल्प सम्बन्ध मानना अद्वैत विरोधी है। इसी प्रकार उनमें समुच्चय मानना और भी अधिक अद्वैत विरोधी है। अन्त में यह कहना कि सत् चित् को आपादित करता

है और चित् सत् को आपादित करता है और भी अधिक भयंकर अनिष्ट प्रसंग है। अतएव अद्वैत तत्व की शुद्धता तथा परोक्षता की रक्षा करते हुए माना जाता है कि अद्वैत ज्ञान प्रज्ञानधन, आनन्दधन, आनन्दमय नहीं है अपितु निर्गुण निर्विकार तथा निराकार है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार अद्वैत दर्शन की अनन्त विधियाँ हैं और इन सब में किसी प्रकार का आपसी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रसंग में वे सुरेश्वराचार्य के वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक के आधार पर मानते हैं कि जिस प्रक्रिया के द्वारा आत्मबोध हो जाय, वह सत्य है और उसकी संख्या अनन्त है।[१८] यहाँ उल्लेखनीय है कि अनेक अद्वैतवादी दार्शनिकों ने उन सभी प्रक्रियाओं को एक संप्रदाय, प्रस्थान या मतवाद में समेटने का प्रयास किया है किन्तु प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत दर्शन कोई वाद, मतवाद, संप्रदाय या निकाय नहीं है। वे कहते हैं कि उन का अद्वैत दर्शन उन सभी प्रस्थानों को अपर्याप्त पाता है जो अद्वैत दर्शन को किसी सूत्र में क्रमबद्ध या सुव्यवस्थित करते हैं। उनकी मान्यता है कि आत्मा अक्रम, असंग होने के कारण किसी सम्प्रदाय के अन्दर बँध नहीं सकती है। अद्वैत दर्शन न तो उपन्यास है और न प्रबन्ध काव्य। वह न तो प्रिंसिपिया मैथेमेटिका है और न न्यूटन की फिजिक्स।[१९] इसीलिए कहा गया है कि परमतत्व मनोमय और विज्ञानमय से परे है। अपने मत की आधुनिक पाश्चात्य दर्शन से तुलना करते हुए वे कहते हैं कि जैसे अस्तित्ववादी अथवा जी० ई० मूर जैसे यथार्थवादी मानते हैं कि दार्शनिक चिन्तन मुक्त होते हैं और वे किसी मतवाद के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। वास्तव में जैसा कि आधुनिक तर्कशास्त्र ने सिद्ध किया है कि कोई सिस्टम या निकाय पूर्ण नहीं है और उस सिस्टम से ऐसे विषय दूर जाते हैं जो उसके अन्दर कथमपि भी नहीं रखे जा सकते। प्रो० पाण्डेय के अनुसार समस्त दर्शनों की आलोचना करता हुआ अद्वैत इसी सिद्धान्त को अग्रसर करता है।

वास्तव में बुद्धि की प्रत्येक वृत्ति अपना व्यापार पूरा करके समाप्त हो जाती है। वृत्तियों का उत्पाद और निरोध शाश्वत है, कुछ वृत्तियों में अपेक्षाकृत स्थिरता रहती है जिस कारण उनके संगठन या साहचर्य के आधार पर एक बौद्धिक व्यवस्था बन जाती है। इस व्यवस्था की अवधि लघु और महान दोनों हो सकती है, किन्तु वह पूर्ण नहीं हो सकती। बुद्धि वृत्ति का यह स्वरूप

प्रातिभज्ञान, अपरोक्षानुभूति, अद्वैतभावना, सोऽहमस्मि की अखण्डवृत्ति पर ही घटित होता है। ध्यान की मात्रा जितनी प्रगाढ़ होती है, उतना अधिक समाधि का अनुभव होता है अर्थात् समाहित चित् बुद्धि की एकाकार वृत्ति है, इसकी अवधि व्यापकता अभ्यास से बढ़ सकती है। किन्तु प्रत्येक दशा में इसका उपशांत होना वैसे ही अनिवार्य है जैसे इसका उदय होना। कुछ भी हो शांति जो बुद्धि के परे है, बुद्धि के अग्रभाग से ही प्राप्त होती है। उस शांति की पूर्णता शिवत्व में होती है। इसीलिए मांडूक्य उपनिषद् में आत्मा को शांतम् शिवम् अद्वैतम् कहा गया है।

प्रो० पाण्डेय उसे निष्प्रपंच भी मानते हैं। निष्प्रपंच पद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वास्तव में प्रपंच विषयों का महासंस्थान है। यद्यपि यह संस्थान आत्मा के बिना संभव नहीं है तथापि वह अपने विषय रूप में केवल अध्यारोपों का जाल है। शनैः-शनैः इन अध्यारोपों को नष्ट कर देने पर आत्मबोध होता है। इसीलिए कहा गया है कि अध्यारोप और अपवाद के द्वारा निष्प्रपंच तत्व का वर्णन किया जाता है -

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते।'

चैतन्य की निष्प्रपंचता इस तथ्य का उद्‌घाटन करती है कि चैतन्य किसी निकाय या विज्ञान अन्तर्वस्तु नहीं है फिर भी उसके अनुभव के बिना कोई वाद नहीं हो सकता। आत्मज्ञान का विरोधाभास यहाँ स्पष्ट हो जाता है। बिना विषय के आत्मज्ञान नहीं होता, किन्तु आत्मा विषय नहीं है, वह बुद्धि और विषयों को नित्य प्रवर्तित करती रहती है तथापि उसका अनुभव तभी होता है जब बुद्धि और विषय 'कतकरजो न्याय' से एक साथ विलुप्त हो जाते हैं। प्रो० पाण्डेय मानते हैं कि बुद्धि की कमजोरी को जानना स्वयं बुद्धि का व्यापार है और बुद्धि अपनी आलोचना के माध्यम से उस तत्व का ज्ञान करा सकती है, कराती है जो बुद्धि के परे है।

अब हम क्रमशः पूर्व उल्लिखित अद्वैतवादियों के अद्वैतवाद से प्रो० पाण्डेय के अद्वैतवाद को सरलता से भिन्न कर सकते हैं -

प्रो० के० सी० भट्टाचार्य के मत की आलोचना प्रो० पाण्डेय ने दार्शनिक त्रैमासिक तृतीय वर्ष प्रथम अंक, जनवरी १९५७ ई० में 'समकालीन वेदान्त और उसकी खोज' नामक लेख में

किया था। डा० जार्ज बर्च ने संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रकाशित 'रिव्यू आफ मेटाफिजिक्स' नामक पत्रिका में डा० के० सी० भट्टाचार्य के वेदान्त मत की व्याख्या की थी। डा० जार्ज बर्च ने भट्टाचार्य के वेदान्त के तीन समानांतर प्रस्थान बताया था और कहा था कि भट्टाचार्य के अनुसार ब्रह्म के तीन वैकल्पिक स्वरूप हैं, जिनका सम्बन्ध चेतना की ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और भावना शक्ति से है। यहाँ प्रो० पाण्डेय सर्वप्रथम कहते हैं कि ब्रह्म विकल्प सहिष्णु नहीं है, जो भी व्यक्ति ब्रह्म का अनुभव करता है वह अपने अनुभव को पूर्ण पाता है और अपने किसी अनुभव या दूसरों के अनुभवों को वह अपने अनुभव का विकल्प नहीं मानता है। वह ब्रह्मानुभव की पूर्णता से इतना आश्वस्त रहता है और उसे इतनी शांति मिलती है कि वैकल्पिक वृत्तियों के साथ उसकी शांति का सामंजस्य नहीं है।

पुनश्च प्रो० पाण्डेय 'चेतना की तीन शक्तियों के सिद्धान्त' को अस्वीकार करते हैं और वे चेतन को एकरस तथा अविकल मानते हैं। वे कहते हैं कि कुछ दार्शनिक गण चेतना को एक ऐसी स्वनिष्ठ वस्तु (Thing in itself) मानते हैं जो शुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, टी० एच० ग्रीन और प्रो० ए० सी० मुकर्जी ऐसे दार्शनिकों में अग्रणी हैं। जबकि कुछ दार्शनिक कहते हैं कि वास्तव में इच्छा ही एकमात्र स्वनिष्ठ वस्तु है, ऐसे दार्शनिकों में आर्थर शोपन हावर और नागार्जुन प्रमुख है। अन्त में ऐसे भी दार्शनिक हैं जो भावना को ही शुद्ध चेतना रूपी परम तत्व मानते हैं, ऐसे दार्शनिकों में प्रो० पाण्डेय तुलसीदास को रखते हैं किन्तु उनका कहना है कि चेतना को चाहे जिस पहलू से निरपेक्ष तत्व समझने का प्रयास किया जाय, प्रत्येक दशा में चेतना ही निरपेक्ष तत्व के रूप में सिद्ध होगी। अतएव चेतना की शक्तियों का वर्णन मात्र औपचारिक है।[२०]

श्री अरविन्द के अद्वैतवाद की आलोचना प्रो० पाण्डेय ने अपने निबन्ध 'मानव चेतना का भविष्य' नामक लेख में किया है वे श्री अरविन्द को अद्वैतवादी मानते हैं, परन्तु उनके अतिमानसवाद तथा आत्मा के विकास को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि आत्मा के विषयों में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं और उनका इतिहास भी है तथापि आत्मा का न तो कोई इतिहास है और न उसका परिवर्तन होता है। वह कूटस्थ नित्य है जो भी परिणाम नित्य है

वह उसका विषय है। विषयों के स्पन्द, उछाल, उपशान्ति आदि के संसर्ग से आत्मा के स्पन्द, उछाल, उपशान्ति कल्पित कर लिये जाते हैं। अद्वैतवादियों ने भी पंचमहाभूतों के गुणों के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, आत्मा को स्वप्रकाश या अग्नि कहना तेज का गुण है, उसे स्पन्द कहना वायु का गुण है, उसे कमल की भाँति सुगंधित कहना पृथ्वी का गुण है, उसे तरंग कहना जल का गुण है और फिर उसे शून्य कहना आकाश के माध्यम से उसका वर्णन है। प्रो० पाण्डेय के मत से ये सब वर्णन तटस्थ लक्षण है, जिन्हें स्वरूप लक्षण मानकर श्री अरविन्द ने आत्मा के अवरोह, आरोह तथा विकास की कल्पना की है। इस प्रकार श्री अरविन्द के अद्वैतवाद से अपने मत को भिन्न करते हुए प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि चैतन्य स्वयं इन सभी लक्षणों का निराकरण करता हुआ अन्ततोगत्वा अपने को अलक्षण सिद्ध करता है। पुनश्च जहाँ तक श्री अरविन्द द्वारा मायावाद के खण्डन का प्रश्न है वहाँ प्रो० पाण्डेय का कहना है कि श्री अरविन्द स्वयं माया को अचिन्त्य शक्ति कहकर उसे प्रकृति से भिन्न करके तथा प्रकृति को चेतन मानकर सिद्ध करते हैं। वे 'सर्वम् खलु इदं ब्रह्म' को उसी रूप में मानते हैं जिस रूप में शंकराचार्य उसका निरूपण करते हैं। अतएव श्री अरविन्द के द्वारा किया गया मायावाद का खण्डन वास्तव में प्रो० पाण्डेय के अद्वैतवाद के लिए इष्टापत्ति है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अद्वैतवाद से प्रो० पाण्डेय ने अपने मत को अलग अपने लेख 'काश्मीर शैवमत की परीक्षा' में किया है। गोपीनाथ कविराज मानते हैं कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद काश्मीर शैव मत से अवर है[21] और काश्मीर शैव मत का अद्वयवाद शांकर अद्वैतवाद से उच्चतर है। वे कहते हैं कि प्रकाश और विमर्श दोनों के माध्यम से जिस चित् तत्व का बोध होता है वह प्रकाश मात्र के बोध से भिन्न तथा गहरा है। शंकराचार्य के अनुसार चैतन्य प्रकाश है, किन्तु वे विमर्श को प्रकाश रूप चैतन्य का स्वरूप नहीं मानते। प्रो० पाण्डेय ने कविराजजी के इस अवमूल्यन से अद्वैतवाद की प्रतिरक्षा की है और सिद्ध किया है कि विमर्श चैतन्य का अनिवार्य लक्षण नहीं है क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि आदि अवस्थाओं में विमर्श न रहने पर भी आत्मानुभूति होती है। इस कारण चैतन्य ही सत् है जो सभी अवस्थाओं में अव्यभिचरित रहता है। यदि चैतन्य की अनुभूति स्वतः नहीं होती तो फिर उसकी वृत्तियों के

माध्यम से उसका जो बोध होगा वह वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य होगा, न कि स्वयं चैतन्य। इस कारण प्रो० पाण्डेय विमर्श या आत्मचेतना से आत्मानुभूति करने में अनवस्था दोष देखते हैं और कहते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार वास्तव में काश्मीर शैव अद्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से अवर है।

प्रो० अनुकूलचन्द्र मुकर्जी के मत से अपने अद्वैतवाद को भिन्न करते हुए प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि प्रो० मुकर्जी का अद्वैतवाद एकात्म प्रत्ययवाद है और उनका प्रत्ययवाद उसके आगे प्रपंचोपशम, शान्त, शिव और अद्वैत भी है। प्रो० मुकर्जी भावना की उस उर्ध्वगति का प्रयोग नहीं करते जिसके लिए प्रत्यय और अर्थवत्ता, ज्ञान और इच्छा, सत्यम् और ऋतम् एकमेक हैं। प्रो० मुकर्जी 'अरून्धती न्याय' का प्रयोग तो करते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ज्ञान की ओर प्रगति करते हैं, परन्तु वे आहार्यज्ञान, स्फोटवाद कुल्याकेदार न्याय आदि का उपयोग करके यह नहीं दिखाते कि कैसे प्रत्येक वृत्ति में आत्मा अपनी स्वानुभूति को सम्पन्न करती है। प्रो० पाण्डेय की शब्दावली में ज्ञान की अग्रगामी प्रक्रिया का प्रयोग नहीं करते और इसकी पृष्ठगामी प्रक्रिया को ही सदैव बढ़ाते रहते हैं। ज्ञान की सर्वव्यापकता उसका अणोरणीयान तथा महतोमहीयान एक साथ होना सिद्ध है। इसी को अग्रसर करते हुए प्रो० पाण्डेय ने दावा किया है कि वे प्रो० मुकर्जी के मत की रक्षा करते हुए भी उनसे आंगे बढ़ गये।

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के मत से प्रो० पाण्डेय इस तथ्य पर सहमत है कि चैतन्य की स्वानुभूति होती है, वह आनन्द से अभिन्न है और एक प्रकार की भक्ति तथा भावना है। परन्तु उन्होंने प्रो० रानडे के इस बात को नहीं माना है कि चैतन्य का स्वरूप मूलतः आनन्द है। वे चैतन्य को स्वप्रकाश के रूप में स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से जो एक अद्वितीय सत् है वही अपने को नित्य समस्त वृत्तियों में प्रकाशित करता रहता है और फिर भी वह उन सबसे निर्विकार और निर्लिप्त है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपने मत को समकालीन दार्शनिको-प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० रामचन्द दत्तात्रेय रानडे,

श्री अरविन्द, गोपीनाथ कविराज के मतों से भिन्न करते हुए अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है। उनकी यह उपलब्धि उन्हें समकालीन अद्वैतवाद में महत्वपूर्ण स्थान दिलाती है।

सन्दर्भ

१. देखिए - स्पिनोजा का दर्शन, काण्ट का दर्शन, गांधी का दर्शन, रानडे का दर्शन, शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन और प्री-शंकर अद्वैत फिलासकी.

२. सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह, शंकराचार्य, २६५.

३. धर्मनीति, महात्मा गांधी, पृ० ६७.

४. आश्रम भजनावलि

५. देखिए, प्रो० संगम लाल पाण्डेय का लेख-'आनन्दवाद', जो रानडे के दर्शन में संकलित है और जिसको डा० बी० आर० कुलकर्णी के संपादकत्व में गुरूदेव रानडे के समाधि ट्रस्ट निम्बल (दक्षिण रेलवे) द्वारा सन् २००१ में प्रकाशित ग्रन्थ 'दिव्यनाम' में भी सम्मिलित किया गया है।

६. संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांक, संपादक डा० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् १९९०, पृ० ६७

७. प्राव्लेम्स आफ डेथ्थ इपिस्टिमोलाजी, संपादक संगम लाल पाण्डेय, रामनाथ कौल ग्रन्थागार, दर्शन विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९८७, पृ० ९.

८. दि क्राइटेरियन, पी०एस० बरेल, देखिए, प्राब्लेम्स आफ डेथ्थ इपिस्टिमोलाजी, पृ० ४६.

९. रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड ४/३४, गीता प्रेस, गोरखपुर.

१०. त्यागेनैके अमृतत्व मानषुः।

११. तैत्तिरीय उपनिषद् ३.६.

१२. नव्यं प्रयागदर्शनम्, संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, १९९८, पृ० ३

१३. वही, पृ० ३

१४. इण्डिया एण्ड योरोप, विल्हेम हाफफास, स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयार्क, १९८८, पृ० ५४८.

१५. समाज धर्म और राजनीति, संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, १९८१, पृ० १२७.

१६. वही, पृ० ४८.

१७. न च अभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासे धामः। - वाचस्पति मिश्र.

१८. यथायथाभवेत पुंसो व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
स सैव प्रक्रियैः स्यात् साध्वी सा चानवस्थितिः।।

- वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, सुरेश्वराचार्य

१६. अद्वैत परिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डॉ० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० १०

२०. वही, पृ० १२

२१. भारतीय संस्कृति और साधना, गोपीनाथ कविराज, प्रथम खण्ड, पटना, १६६३, पृ० ५

तृतीय अध्याय

अद्वैत दर्शन की प्रणाली का पुनर्गठन
प्रातिभज्ञान या स्वानुभूति का उज्जीवन
ज्ञान और इच्छा के क्रम समुच्चय का विवेचन

तृतीय अध्याय

अद्वैत दर्शन की प्रणाली का पुनर्गठन

अद्वैत दर्शन की प्रणाली का पुनर्गठन प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने अपने कई निबन्धों में किया है जिनमें मुख्य है- अद्वैत दर्शन की प्रणाली, वुद्धिवादः बहुमूल्यता विषयता और प्रमाणाद्वैत के सिद्धान्त। यहाँ हम इन्हीं निबन्धों के आधार पर उनके द्वारा संरचित अद्वैत प्रणाली का वर्णन करेंगे।

अद्वैत दर्शन की प्रणाली को राजयोग, सर्वकर्मसन्यासयोग अथवा ज्ञानमार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतीय मनीषियों ने इसे धर्मनिरपेक्ष प्रणाली माना है तथा ज्ञानमार्ग को कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग से श्रेयस्कर सिद्ध किया है। प्रो० पाण्डेय का कहना हैं कि अद्वैत-प्रणाली धर्मशास्त्र, पूर्वमीमांसा एवं रहस्यवाद की प्रणालियों से भिन्न है। जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड या ब्रह्म जिज्ञासा कर्मकाण्ड या धर्म जिज्ञासा से भिन्न है उसी प्रकार उसकी प्रणाली भी धर्म की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। धर्म की प्रणाली श्रुतियों का विधि-निषेध परक अर्थ करती है जबकि दर्शन की प्रणाली श्रुतियों का वस्तुपरक अर्थ करती है, न कि क्रियापरक अर्थ। शंकराचार्य का मानना है कि धर्म जिज्ञासा की भाँति ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति स्मृति ही प्रमाण नहीं, वरन् स्मृति और युक्ति भी यथासंभव प्रमाण है।[1] जैमिनीयमीमांसा-सूत्र के अनुसार जो श्रुतियाँ क्रियात्मक हैं, वे ही सार्थक है शेष निरर्थक हैं- 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'।[2] श्रुतियों का अर्थ है वेदोक्त कर्म और ब्रह्म की उपासना करना है।

प्रभाकर तो वेदों में वस्तुवादी वाक्य तक का खंडन करते हैं। प्रवृत्ति, निवृत्ति, विधि और उसके अंग के अतिरिक्त वस्तुवादी वेद भाग नहीं है- 'प्रवृत्ति-निवृत्ति विधि तच्छेषव्यतिरेकेण केवल

वस्तुवादी वेदभागो नास्ति'। परन्तु अद्वैत वादियों ने धर्ममीमांसाकृत श्रुत्यर्थ का प्रत्याखान किया है। उनके अनुसार श्रुतियों का तात्पर्य परमार्थ वस्तु ब्रह्म में है उसको प्रसन्न रखने के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं है। वह परमार्थ सत् आत्मा ही है। अतः आत्मज्ञान से ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। ज्ञान और कर्म परस्पर विरूद्ध धर्मक होते हैं। कर्म पुरूषतंत्र है और ज्ञान वस्तुतंत्र है। कर्म का विषय भव्य और अनित्य है जबकि ज्ञान का विषय भूत और नित्य है। कर्म का फल अधर्म का परिहार, धर्म का ग्रहण और स्वर्गादि की प्राप्ति है, ज्ञान का फल स्वर्ग प्राप्ति नहीं है, वह अपना फल स्वयं है। उसकी प्राप्ति से आनन्द मिलता है, शोक दूर होता है। यहॉ एक शंका उठती है कि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया ही है। शंकराचार्य का कहना है कि आत्मबोध या वस्तुज्ञान में क्रिया का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है- 'ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्ध-मात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते'।[3] अद्वैत में इसी स्थिति को मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है बल्कि यह सदा प्राप्त है। इसका सम्बन्ध सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति से भी नहीं है अपितु यह स्वस्थ, स्वतंत्र और स्वज्ञ अवस्था है। दूसरे शब्दों में अद्वैत की स्वातन्त्रय अवस्था और ईश्वर सानिध्य दोनों को मोक्ष कहा जा सकता है।

कतिपय लोग अद्वैत-प्रणाली को धार्मिक तथा रहस्यवादी साधनात्मक बतलाते है। वास्तव में वे अद्वैत के मोक्ष सिद्धान्त और श्रुति प्रमाण को वास्तविक अर्थ में नहीं समझते हैं। वस्तु सत्य तो यह है कि श्रुति प्रमाण का तात्पर्य धार्मिक रहस्यवादी प्रणाली नहीं और न ही मोक्ष का संबंध किसी धर्म साधना से है। इसीलिए अद्वैतवादियों ने वेदान्त की प्रणाली को धर्म की प्रणाली से भिन्न रखने के लिए ही धर्मानुकूल श्रुत्यर्थ और मोक्ष का खंडन किया है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष, ब्रह्म और आत्मा को एक दूसरे का पर्यायवाची माना गया है। जो मोक्ष है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही ज्ञान है। अद्वैत मोक्षशास्त्र, अध्यात्मविद्या, ब्रह्म-विद्या और ज्ञान-विज्ञान है। प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि ब्रह्म विद्या वस्तुतः पाश्चात्य तत्वमीमांसा है। दर्शन में अर्थ और वस्तु का प्राधान्य होता है। उसकी भाषा युगानुसार बदलती रहती है और उसके सिद्धान्त नित्य नूतन रहते हैं। अस्तु, यदि आज अद्वैत की भाषा धर्म की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है तो उसको परिवर्तित करने की आवश्यकता है। विशुद्ध ज्ञान मार्ग में ब्रह्म को हम चरम सत्ता, मोक्ष को पूर्ण स्वातंत्र्य और आत्मा को ज्ञान के रूप में स्वीकार करेंगे।

पुनश्च, प्रो० पाण्डेय अद्वैत विषयक समस्त भ्रांतियों का मूल कारण ज्ञान मार्ग को समझाने में असफल होना मानते हैं। अद्वैत दर्शन को धार्मिक तथा रहस्यवादी मानने वालों के समक्ष उन्होंने प्रश्न उठाया है कि क्या धर्म विना क्रिया या कर्म के संभव है? क्या उपासना के विना धर्म जीवित रह सकता है? क्या ईश्वर के विना धर्म टिक सकता है? वास्तव में उपासना कर्म तथा ईश्वर धर्म के आवश्यक और अनिवार्य गुण है। परन्तु अद्वैत के ज्ञान मार्ग में इनकार लेशमात्र भी अवकाश नहीं है क्योंकि शंकराचार्य ने कर्मकाण्ड, उपासना और ईश्वर को माया, मिथ्या और अनित्य बताया है। अब हम युक्ति, अनुभूति श्रुति आदि को अपने-अपने विषयों का ज्ञान कराने के कारण प्रमाण के रूप में विश्लेषित करेंगे।

ज्ञानमार्ग में स्वानुभूति, युक्ति और श्रुति यथासंभव प्रमाण

ज्ञानमार्ग में स्वानुभूति, युक्ति, स्मृति और श्रुति प्रमाण है क्योंकि ये सभी अपने-अपने विषयों का ज्ञान प्रदान करने के कारण प्रमाण के रूप में मान्य हैं। यहाँ हम एक-एक कर इन सभी का विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

(अ) स्वानुभूति का विश्लेषण

किसी भी दर्शन के लिए सबसे बड़ा प्रमाण अनुभव या अनुभूति है। यहाँ अनुभूति प्रातिभज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त न होकर पाश्चात्य दर्शन के एक्सपीरियन्स के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि और अर्थापत्ति सभी प्रमाण आ जाते हैं। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अनुभव के अन्दर प्रत्यक्ष, संवेदन, भ्रम, प्रतिभास, स्मृति, कल्पना इत्यादि सभी यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान प्रकार सम्मिलित है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत दर्शन जान लाक की इस उक्ति का पूर्ण समर्थन करता है कि अनुभव ही सभी वस्तुओं का ज्ञान कराता है। अनुभव से परे कोई वस्तु नहीं है। दूसरों का अनुभव दार्शनिक के लिए उतना उपादेय नहीं है, जितना उसका स्वयं का अनुभव दूसरों का अनुभव उसके लिए शब्दमात्र है। उसे अपने अनुभव के बल पर तत्व और ज्ञान का निरूपण करना चाहिए। केवल वेदान्त का विज्ञान ही

स्वानुभूति पर प्रतिष्ठित है।[४] अन्य शास्त्रों के ज्ञाता पाखण्डी और ज्ञान शत्रु है क्योंकि वे दूसरों के अनुभव पर निर्भर है-

> "अन्ये पाखण्डिन सर्वे ज्ञानवार्तासुदुर्लभाः।
> एकं वेदान्त विज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते।।[५]

जिज्ञासु के लिए श्रुतियाँ उतनी उपादेय नहीं है जितनी उसकी अनुभूति है। ब्रह्म विषयक बातचीत से ज्ञान नहीं मिलता है। जिज्ञासु को अपने अनुभव से देखना चाहिए कि ब्रह्म है या नहीं? और है तो क्या है? जो लोग ऐसा नहीं करते वे महान अज्ञानी है और सदा जरामरण जैसे घोर दुःख से आक्रान्त रहते हैं।

> कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
> ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च।।[६]

प्रो० पाण्डेय के अनुसार अनुभव सीमा से परिच्छिन्न नहीं होता है। अनुभव पुरूषाधीन नहीं है, अनुभव सदा वस्तु का होता है। अतएव वह विषयगत अर्थात् वस्तु के अधीन होता है। दूसरे शब्दों में अनुभव ही दर्शन का अथ और इति है। अनुभव से ही उसका आरम्भ और पर्यावसान होता है। अनुभव मन, बुद्धि, अहंकार, चक्षु, कर्ण आदि सभी आंतरिक एवं बाह्य इंद्रियों द्वारा होता है। अनुभवों की संख्या अमित है। उनका प्रकार भेद भी अगण्य है। फिर भी अद्वैत वेदान्त उन्हें सामान्यतः चार कोटियों में बाँटता हैं -

(१) जाग्रतानुभव (२) स्वप्नानुभव (३) सुषुप्तानुभव और (४) तुरीयानुभव। यहाँ हम जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के अनुभवों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे -

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का विश्लेषण

प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली का श्रीगणेश जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के अनुभवों के युक्तियुक्त विश्लेषण से होता है। मनुष्य की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन

तीनों अवस्थाओं में आत्मा का सारभूत चैतन्य अवश्य विद्यमान रहता है। जाग्रत अवस्था में बाह्य एवं आंतरिक विषयों का ज्ञान होता है। बाह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होता है तथा आंतरिक विषयों का ज्ञान अन्तःकरण एवं मनोभावों के सन्निकर्ष से होता है। स्वप्न में आंतरिक सूक्ष्म विषयों का ज्ञान होता है। सुषुप्ति में आंतरिक एवं बाह्य किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता, तथापि इस अवस्था में भी चैतन्य बना रहता है। 'मैं सुख पूर्वक सोया', सुषुप्ति के इस अनुभव की जाग्रत में स्मृति इस बात का प्रमाण है कि सुषुप्तावस्था में भी चैतन्य (ज्ञान) का लोप नहीं होता है।

आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान भी स्वप्न तथा तत्सदृश अन्य अवस्थाओं पर विचार करता है। इसके अनुसार जाग्रत अनुभवों की अपेक्षा अजाग्रत अनुभवों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। प्रो० पाण्डेय ने अद्वैत विधि में समस्त अनुभवों के यथावकाश उपयोग को अद्वैत प्रणाली की अद्वितीय विशेषता मानते हुए कहा है कि 'विश्व में किसी भी दर्शन ने आज तक इन तीनों अनुभवों का इतना सुन्दर उपयोग नहीं किया जितना अद्वैत वेदान्त ने।[७] विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों ने तो स्वप्न एवं सुषुप्ति अनुभवों पर विचार तक नहीं किया, अपितु केवल जाग्रत अनुभवों का ही विश्लेषण किया। फलस्वरूप उन्होंने स्वप्न को मिथ्या और सुषुप्ति को अज्ञानमात्र कहा जिसके कारण उनका चिंतन एकांगी और अपूर्ण रह गया। यद्यपि अद्वैत के आचार्यो ने भी स्वप्न को मिथ्या तथा सुषुप्ति को अज्ञान कहा, तथापि उन्होंने इस पर गूढ़ मनन किया, जाग्रत अनुभव से स्वप्न के अनुभव की तुलना की और दोनों में पर्याप्त साम्य पाया।

आचार्य गौडपाद के अनुसार "अन्तः स्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् यथातत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वं न भिद्यते।.........उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि, क एतान् बुद्धयते भेदान् को वैतेषां विकल्पकः।।"[८]

अर्थात् स्वप्न के विषय आभ्यन्तर है, जाग्रत के भी। दोनों में संवृतत्व या बन्द होने की दशा अभिन्न है। अतः दोनों विषयों में अभेद होने के कारण मनीषियों ने दोनों को एक कहा है। जो आदि और अन्त में नहीं है वह मध्य में भी नहीं है। जो केवल मध्य में है उसकी केवल

प्रतीयमान सत्ता है, वह परमार्थतः असत् है। स्वप्न तथा जाग्रत के विषय आदि अन्त में नहीं रहते। स्वप्नपूर्ण और स्वप्न पश्चात् स्वप्न विषयों का अत्यन्त अभाव है। इसी प्रकार जाग्रत के पूर्व और जाग्रत के विषय अनुभूत न होने के कारण असत् ही है। जैसे जाग्रत के विषयों का कुछ प्रयोजन होता है वैसे स्वप्न का भी। अतः आदि और अन्त में सदृश होने के कारण दोनों अमत् है। स्वप्न विषय अपूर्व है, जिस प्रकार कोई शिक्षित पुरूष उदाहरण के लिए डाक्टर, अपनी शिक्षा के विषय डाक्टरी को ही जाग्रत अवस्था में देखता है, उसी प्रकार स्वप्न-द्रष्टा भी अपने अनुकूल मनोनीत विषयों का अनुभव करता है। स्वप्न में मन कुछ वस्तुओं को अपने से बाहर स्थित देखता है और कुछ को अपने अन्दर ही। वह अन्दर अनुभूत वस्तुओं को असत् तथा बाह्य अनुभूत वस्तुओं को सत् समझता है। परन्तु जाग्रत होने पर उसे दोनों का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। इस कारण जाग्रत अवस्था में मन कुछ वस्तुओं को अपने अन्दर स्थित पाता है और कुछ को बाहर। जो बाहर स्थित लगती है उन्हें वह सत् जानता है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तुएँ परन्तु जो आभ्यन्तर है उन्हें वह असत् समझता है जैसे कल्पना और प्रतिभास के विषय। परन्तु जाग्रत अवस्था के निराकरण होने पर दोनों की असत्ता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार यदि इन दोनों अवस्थाओं में अनुभूत असत् है तो वह कौन वस्तु है जो इनकी कल्पना करता है और इनको जानता है?

बहुव्यक्तित्व या युगल व्यक्तित्व

मनुष्य का व्यक्तित्व एक न होकर अनेक है। वह अपनी चेतनावस्था अर्थात् जागृति में कुछ है और अचेतनावस्था अर्थात् स्वप्न में कुछ और। सुषुप्ति में तो उसकी सब अवस्थाओं से भिन्न ही अवस्था रहती है। इस कारण हमारा व्यक्तित्व मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से एक नहीं है। वह कम से कम तीन मनोवैज्ञानिक व्यक्तियों का संघात है। हमारे व्यक्तित्व के विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीन परस्पर स्वतंत्र और स्पष्ट पहलू हैं। यदि इन अवस्थाओं पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो इनकी संख्या बढ़ सकती है और तदनुकूल हमारा व्यक्तित्व भी अनेकधा बढ़ता जाएगा। अद्वैत के परवत्ती आचार्यों ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अतिरिक्त इन तीनों के नाना प्रकार

के मिश्रण से अन्य कई अवस्थाओं की विवेचना की है जो बहुत कुछ वर्तमान मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की गवेषणाओं से साम्य रखती है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति परस्पर स्वतंत्र है। इन तीनों अवस्थाओं में प्रत्येक पुरूष का तीन व्यक्तित्व रहता है। इन तीनों व्यक्तित्वों के विश्लेषण का निहितार्थ स्पष्ट करते हुए प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि जाग्रत अवस्था का जीव विश्व है, स्वप्न का तैजस और सुषुप्ति का प्राज्ञ। इनके तीन कार्य भी है- विश्व स्थूल वस्तुओं का उपभोग करता है, तैजस सूक्ष्म का और प्राज्ञ आनन्द मात्र का। इनके तीन पृथक शरीर भी हैं। विश्व का शरीर स्थूल देह है, तैजस का सूक्ष्म या लिंग शरीर है जिसे मनोवैज्ञानिक 'काया' कहा जा सकता है। प्राज्ञ का शरीर अज्ञान या अविद्या का रूप है क्योंकि सुषुप्ति में अज्ञान मात्र छाया रहता है। विश्व की जो वस्तुएँ गोचर होती हैं उनके समुदाय को वैश्वानर या विराट कहते हैं। आधुनिक भाषा में इसे ब्रह्माण्ड या संसार कहा जाता है। तैजस जिन वस्तुओं को जानता है उनके समुदाय को हिरण्यगर्भ कहा जाता है इसे आधुनिक भाषा में उपचेतन संसार (Universe of the Unconscious) कह सकते हैं। इसी प्रकार प्राज्ञ को जिस वस्तु की प्रतीति होती है उसे ईश्वर कहा जाता है, आधुनिक भाषा में हम इसे सुषुप्ति कालीन आनन्द कह सकते हैं।[६]

मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों का विश्लेषण करते हुए प्रो० पाण्डेय व्यक्तित्व के मूलतत्व की ओर अग्रसर होते हैं। उनके अनुसार यदि प्राज्ञ, तैजस और विश्व के अनुभवों की पारस्परिक तुलना संभव है तो यह सिद्ध हो जाता है कि कोई व्यक्तित्व भी इनके मूल में है जो इनका सहगामी और साक्षी है। इसी व्यक्तित्व को अद्वैत वेदान्त में 'आत्मा' कहा गया है। यही व्यक्तित्व की तुरीयावस्था है। यद्यपि विश्व, तैजस और प्राज्ञ की सहस्थिति अशक्य है परन्तु इनमें से प्रत्येक का तुरीय के साथ सहभाव होता है। हम तुरीय को आधार और इन तीनों को उस पर स्थित परस्पर भिन्न आधेय कह सकते हैं। तुरीय प्रत्येक पुरूष का सार्वक्षणिक अनुभव है इसका ज्ञान विश्व तैजस और प्राज्ञ के ज्ञान के साथ ही साथ होता रहता है। इसी कारण इसे वेदान्त में प्रतिबोध विदित और सकल भावों तथा पदार्थों की प्राज्ञपेक्षा कहा जाता है। जब तुरीय

का ही वास्तविक रूप से ज्ञान किया जाता है तो विश्व तैजस तथा प्राज्ञ मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। यही अनुभव ही अद्वैतानुभूति है।

(ब) युक्ति का विश्लेषण

स्वानुभूति के विश्लेषणोपरान्त यह बात स्पष्ट हो गयी है कि वास्तविक प्रमाण वह है जिसका दूसरे प्रमाण से बाध न हो। जो वस्तुएँ एक प्रमाण से सिद्ध और दूसरे से असिद्ध हैं, वे अयथार्थ हैं। 'न हि प्रमाणान्तरवाधितस्य याथार्थ्यमंगीक्रियते महद्भिः।'[10] विश्व के अनुभव का बोध तैजस और प्राज्ञ के अनुभव से होता है। इसी प्रकार तैजस के अनुभव का बोध भी विश्व तथा तैजस के अनुभव में होता है। अतः परस्पर बाधित होने के कारण विश्व, तैजस और प्राज्ञ के अनुभव प्रमाण नहीं है। आत्मा या तुरीय का अनुभव अवाधित हैं क्योंकि वह विश्व तैजस तथा प्राज्ञ का सारभूत सहवर्त्ती और सदा विद्यमान साक्षी है। इसी कारण केवल तुरीय का अनुभव प्रमाण है। यहाँ प्रश्न उठता है कि युक्ति या तर्क किस अर्थ में प्रमाण या अप्रमाण है?

अद्वैत-साहित्य में तर्क अथवा युक्ति को यदा कदा-अप्रतिष्ठित और व्यर्थ बताया जाता है।[11] इसी आधार पर आलोचकों ने अद्वैत प्रणाली को युक्तिहीन और रहस्यवादी होने का आरोप लगाया है, जो कि युक्तिसंगत नहीं है। शंकराचार्य का कहना है कि तर्क अप्रिष्ठित है, इस वाक्य में तर्क के विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है। सब तर्कों की अप्रतिष्ठा से तो लोक व्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा – 'सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोक व्यवहारोच्छेद प्रसंगः'।[12] इसी प्रकार कहा जाता है कि अद्वैत तर्क से श्रुति को अधिक महत्व प्रदान करता है। इस संदर्भ में शंकराचार्य कहते हैं कि तर्क श्रुति का भी ज्ञापक होने के कारण बलवत्तर है। श्रुतियों का संघर्ष उपस्थित होने पर तर्क ही उसको निराकृत करता है। पुनश्च, श्रुत्यर्थ का निरूपण भी तर्क द्वारा ही होता है। अतः यद्यपि तर्क श्रुति का अनुगृहीत है तो भी वह श्रुति से बलवान स्वतंत्र प्रमाण है। किसी-किसी विषय में तो तर्क मात्र ही प्रमाण होता है। श्रुति प्रत्यक्ष आदि का वहाँ अवकाश भी नहीं रहता-- 'क्वचिद् विषयेषु तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वम् उपलक्ष्यते'। अतः जो तर्क को अव्यवस्थित तथा अप्रतिष्ठित

कहते हैं वे वस्तुतः तर्क को स्वालोचक बनाते हैं। यदि तर्क अप्रतिष्ठित है तो यह उसका अलंकार है।

पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने द्वन्द्वों (Antinomies) के विश्लेषण से यह बात सिद्ध किया है कि कुछ विषयों में हम तर्कतः क और -क दोनों वाक्य सिद्ध कर सकते है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि ईश्वर है और ईश्वर नहीं है। दोनों तर्क तुल्यबल है। अतएव एक दूसरे का खण्डन और मण्डन नहीं कर सकते। इसी कारण तर्क की यह प्रकृति है कि उसकी स्वतः किसी चरम सिद्धान्त में परिणति नहीं होती, यही तर्क की सीमा है। हेगल ने द्वन्द्वों के समन्वय सिद्धान्त की कल्पना की है परन्तु एक द्वन्द्व के दो विरूद्ध भावों का समन्वय जब तीसरे भाव में होता है तो एक चतुर्थ भाव भी उपस्थित होता है जिसके साथ तीसरे भाव का पुनः द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार उसके दर्शन में द्वन्द्व सनातन है, समन्वय केवल आभास मात्र और क्षणिक है।

दार्शनिक संशयवाद की प्रतिष्ठा

यदि द्वन्द्व सनातन है और तर्क से समाधान संभव नहीं है तो ऐसी दशा में दार्शनिक की परख होती है। कतिपय लोग चतुर्दिक अन्धकार देखकर सामान्य लोकबुद्धि का सहारा लेते हैं। वहीं कुछ लोग विज्ञान तथा कुछ धर्म की शरण लेते हैं। ये सभी संकटकाल में दर्शन के शत्रु है, न कि दर्शन-मित्र। सच्चा दार्शनिक वह है जो इस घोर संशय में भी संशयारूढ़ बना रहें। यदि पैर आगे न बढ़ सके तो संग्राम-भूमि में पीछे हटने के बजाय वही खड़ा रहकर लड़ते रहना सैनिक के लिए श्रेयस्कर है। यही दशा संशयग्रस्त दार्शनिक का भी है। वह कायर है जो पीछे हटकर लोक व्यवहार धर्म या विज्ञान की शरण ले। उसे यदि आगे का मार्ग नहीं मिलता तो युक्तितः वह संशयारूढ़ ही रहता है। कथन है कि 'संशयात्मा विनश्यति'[3] अर्थात् संशय करने वाला नष्ट हो जाता है, यह दर्शन द्रोहियों का सिद्धान्त है। अतः दार्शनिक संशयवाद युक्ति का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

यदि केवल तर्क या युक्ति ही प्रमाण है तो फिर दार्शनिक संशयवाद ही दर्शन की पराकाष्ठा है। परन्तु युक्ति के अतिरिक्त अनुभव भी होता है। जो अनुभव युक्ति से उर्ध्व तथा

युक्तियुक्त हो, वह संशयवाद से आगे बढ़ सकता है। दूसरों का अनुभव श्रुति बनकर हमारी सहायता करती है। अतः श्रुति हमें केवल अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति में ही प्रमाण है- 'श्रुतिश्च नः प्रमाणम् अतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ'।[64] जब युक्ति दो तुल्यबल ज्ञानमार्गों के चौराहे पर लाकर हमें खड़ा कर देती है तो उस समय हमें थोड़ा रूककर मनन करना चाहिए। सर्वप्रथम युक्ति का आलोचन करना चाहिए तत्पश्चात् अनुभव की परीक्षा करनी चाहिए। यदि अपने अनुभव में कुछ प्रगतिसूचक संकेत न मिले तो दूसरों के अनुभव की समीक्षा करनी चाहिए। यदि यहाँ युक्तिसम्मत मार्ग मिल जाय तो उस पर चलना चाहिए। यही मनन की विधि है। युक्ति जब दुविधा में डाले तो उसके मूल को पकड़ना और समझना चाहिए। यही युक्ति के आलोचन का अभिप्राय है।

अब प्रश्न उठता है कि युक्ति का मूल क्या है? युक्ति का मूल स्वतः युक्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं अप्रतिष्ठित है। खण्डन या अभाव युक्ति का मूल नहीं हो सकता क्योंकि यदि खण्डन ही उसका स्वभाव होता तो वह मण्डन कभी न करती और करती भी तो वहाँ वह अप्रमाण होती। युक्ति का मूल अनुभव, भ्रम, प्रतिभास, स्वप्न आदि नहीं हो सकते हैं क्योंकि अयथार्थ अनुभवों पर आधारित युक्ति वस्तुतः युक्ति नहीं हैं, यह युक्ति का असफल आभास है। फिर क्या प्रत्यक्ष युक्ति का मूल हो सकता है? प्रो० पाण्डेय ने अन्यत्र प्रत्यक्ष का विवेचन करके निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्यक्ष स्वतः अप्रमाण है और यह स्पष्ट है कि जो स्वतः अप्रमाण है वह युक्ति का मूल नहीं हो सकता क्योंकि युक्ति स्वतः प्रमाण है।[65] काण्ट ने प्रत्यक्षवाद और युक्तिवाद दोनों का खण्डन किया। प्रत्यक्षवाद के अभाव में युक्तिवाद खोखला है और युक्तिवाद के अभाव में प्रत्यक्षवाद अन्धा है। इस प्रकार उसने ह्यूम के शुद्ध प्रत्यक्षवाद और लाइबनीज के शुद्ध युक्तिवाद को व्यर्थ बतलाते हुए सिद्ध किया कि ज्ञान में दोनों का युगपत सहभाव होता है। जिन दो वस्तुओं का युगपत् सहभाव होता है वे एक दूसरे का मूल नहीं हो सकती। फिर प्रत्यक्ष के बिना युक्ति मूक नहीं है। गणित की वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी युक्ति द्वारा उनका विवेचन संभव है। प्रत्यक्ष का निरूपण युक्ति ही करती है, युक्ति के अभाव में प्रत्यक्ष असंभव है। अतः प्रत्यक्ष स्वयं युक्तिमूलक है तो वह युक्ति का मूल कैसे हो सकता है?

बुद्धिवादी दार्शनिक देकार्त और स्पिनोजा ने सिद्ध किया है कि युक्ति का मूल प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ किसी भी वस्तु का साक्षात्कार है। यह स्वत· सिद्ध ज्ञान है। इसका युक्ति द्वारा खण्डन संभव नहीं है। यहाँ प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत दर्शन काफी हद तक स्पिनोजा और देकार्त के उक्त सिद्धान्त को मानता है।[९६] दूसरों के प्रातिभों की ही राशि का नाम श्रुति या उपनिषद है। युक्ति का मूल जानना निरन्तर मनन पर निर्भर है। जो जितना ही निरन्तर मनन करेगा, जो जितना ही युक्ति के सहारे संशयारूढ़ बना रहेगा, वह उतना ही अधिक युक्ति के आधार प्रातिभ ज्ञान को समझेगा।

अद्वैत प्रणाली और न्याय की तीन कोटियाँ

अद्वैत की प्रणाली में तीन विभिन्न युक्तियाँ या न्यायों का प्रयोग होता है, जो हैं- चतुष्कोटिक न्याय, द्विकोटिक न्याय, और एक कोटिक न्याय। इन तीनों न्यायों द्वारा मुख्यतः परमत का खण्डन किया जाता है और गौणतः स्वमत का मण्डन अपेक्षित रहता है। इन तीनों न्यायों का विवेचन इस प्रकार है -

चतुष्कोटिक न्याय

सर्वप्रथम इस न्याय प्रणाली का समग्र विकास नागार्जुन के दर्शन में हुआ है पर इस का बीज माण्डूक्योपनिषद में परिलक्षित होता है-- "नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।"[९७] आत्मा न आभ्यान्तर ज्ञान है, न वाह्य, न दोनों और न ज्ञान विशेष का पुंज। वह न ज्ञान है न अज्ञान इस प्रकार आभ्यान्तर, बाह्य, उभय तथा अनुभय- ये चार कोटियाँ उपनिषद् में प्राप्य है। आचार्य गौड़पाद ने कहा है -

"अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरा वृणोत्येव बालिशः।।
कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृताः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः सः सर्वदृक्।।[९८]

अर्थात्, अस्तिवाद, नास्तिवाद, अस्ति-नास्ति-उभयवाद और नास्ति-नास्तिवाद अर्थात् अत्यन्त शून्यवाद ये चारों मत आत्मा के विषय में प्रचलित है। अस्ति, नास्ति, उभय और अभाव ये ही चार कोटियाँ है। अस्तिभाव का आशय है कि आत्मा चल है। नास्तिभाव का अर्थ है कि आत्मा स्थिर है। उभयवाद का तात्पर्य है कि आत्मा चल और स्थिर, सत्-असत् दोनों है। आत्मा का अत्यन्त अभाव है। यह चतुर्थवाद है। इन चारों मतों को मानने वाले भ्रान्त है। आत्मा इन चारों कोटियों से अस्पृष्ट है जो इस तथ्य को जानता है, उसी को सत्य का ज्ञान होता है।

पुनश्च, किसी पदार्थ या भाव को लेकर चार प्रकार की कोटियाँ बनायी जा सकती है। उदाहरणार्थ-कोई भाव पदार्थ 'क' को लेते हैं। क स्वयं एक कोटि है। दूसरी कोटि 'क' का विरोधी भाव अ-क है। तीसरी कोटि क और अ-क की सहस्थिति है। चौथी कोटि उपरोक्त तीनों कोटियों का अभाव है अर्थात् न क और न अ-क। इस प्रकार क, अ-क, क और अ-क, न क और न अ-क ये चार कोटियाँ है। अद्वैत वेदान्त ने सम्यक विचारोपरान्त इन चारो कोटियों को असंगत सिद्ध किया है। इसी कारण ये कोटियाँ सत्य नहीं है। वस्तुतः इन कोटियों से भिन्न एक अन्य कोटि है जो कि स्वतंत्र कोटि है। इस न्याय प्रणाली का अनुप्रयोग दूसरों के मत को काटने के लिए भी किया जाता है। शंकरोत्तर वेदान्त के आचार्यों ने, विशेषकर श्री हर्ष ने इस प्रणाली का प्रयोग कर सभी प्रकार के पदार्थों, गुणों, क्रियाओं और वादों का खण्डन किया है।

द्विकोटिक न्याय

इस न्याय प्रणाली के अन्तर्गत किसी पदार्थ के सत् और असत् इन्हीं दोनों पहलुओं पर या किन्ही दो परस्पर विरोधी भावों पर विचार किया जाता है। जैसे माया न सत् है न असत्, न तत्व है न अतत्व, न ज्ञान है न अज्ञान, न भाव है न अभाव। वह इन दोनों से परे अनिर्वचनीयता की कोटि है। शंकराचार्य ने परमत खण्डन करने के लिए इस प्रणाली का बहुत प्रयोग किया है। द्विकोटिक न्याय खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनों है। आधुनिक दर्शन में ब्रैडले ने भी इस प्रणाली का उपयोग किया। उसने उभयतःपाशों के बल पर ही अपनी 'आभास और

सत्' नामक पुस्तक में तत्व निरूपण किया है। अद्वैत दार्शनिकों के सदृश ही उसने भी किसी पदार्थ या भाव की आभासता द्विकोटिक न्याय प्रणाली द्वारा सिद्ध किया है।

एककोटिक न्याय

इस प्रणाली को 'नेति-नेति' की प्रणाली भी कहा जाता है। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'[१६] अध्यारोप तथा अपवाद द्वारा ही निष्प्रपंच वस्तु का निरूपण किया जाता है। इस विधि में पहले किसी वस्तु को सत् मानते है और बाद में युक्ति द्वारा इसे असत् सिद्धकर किसी दूसरी वस्तु को सत् मानते है।

एककोटिक न्याय का विध्यात्मक पहलू भी अद्वैत प्रणाली में प्रयुक्त होता है। अनुभव के आधार पर बिना किसी युक्ति द्वारा पुष्टि के कोई भी वाक्य अद्वैत दार्शनिक को मान्य नहीं है। अनुभव की तीव्रता और सूक्ष्मता प्रकट करने वाले अनेकों तर्क अद्वैत दर्शन में उपलब्ध हैं। हम यहाँ दो प्रसिद्ध तर्कों का उल्लेख करेंगे, शंकर का कहना है कि आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा के बिना किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं का ग्रहण आत्मा की अनिवार्य कोटि द्वारा होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है। इस प्रकार यह तर्क आत्मा मात्र की परमार्थ सत्ता घोषित करता है। दूसरा प्रसिद्ध तर्क- 'स्वात्मनि क्रिया विरोधात्' है। किसी वस्तु में स्वयंकृत क्रिया नहीं हो सकती। पदार्थ स्वयं को नहीं जान सकता। आँख स्वयं को नहीं देख सकती। इन सबको जानने के लिए इन सबसे भिन्न आत्मा की आवश्यकता होती है।

(स) श्रुति का विश्लेषण और समन्वय

श्रुति रत्न ऋषियों के बुद्धि सागर के मंथन से निकले हैं। श्रुतिवाक्य ऋषियों के ब्रह्म-विषयक स्वानुभव की शाब्दिक अभिव्यक्ति है, अतः श्रुति को शब्द-ब्रह्म भी कहते हैं। श्रुति तर्क शत्रु न होकर तर्कमित्र है। वह लौकिक दृष्टान्तों से उस ज्ञान को बतलाती है जो केवल तर्क द्वारा सम्भव नहीं है। अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का कहना है कि सभी श्रुति वाक्यों को पहले विश्लेषण करना चाहिए। देखना चाहिए कि उनका अर्थ अभिधेय है या लाक्षणिक। अभिधा और

लक्षणा ये दो शब्द शक्तियाँ है। इनसे पहले किसी के भी कथित वाक्य का प्रधान या गौण अर्थ जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। फिर सभी अर्थों पर मनन द्वारा उसके साम्य तथा वैषम्य पर विचार करके तत्पश्चात् गौण और प्रधान अर्थों का सामंजस्य बैठाना चाहिए। सभी श्रुति वाक्यों का विश्लेषण अद्वैत ने किया है। तत्वमसि (छांदो०- ६/८/७), अहं ब्रह्मस्मि (बृह०- १/४/१०), प्रज्ञान ब्रह्म (ऐत०- ३/३), अयमात्मा ब्रह्म (बृह०- २/५/१६) इत्यादि महावाक्यों का भी अद्वैत सुन्दर विश्लेषण करता है।

यहाँ हम केवल 'तत्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इस महावाक्य में तीन पद है- 'तू', 'वह' और है। 'तू' का सामान्य अभिधेय अर्थ मन शरीर-धारी जीव है। 'वह' का सामान्य अभिधेय अर्थ विषगत सत्ता है। 'है' का अभिप्राय दोनों का अभेद होना है। पर ऐसा अभिधेय अर्थ करना विप्रतिसिद्ध है क्योंकि मन शरीर-धारी जीव सकल संसार का एक शुद्ध नश्वर कण है और विषय गत सत्ता बहुत बड़ी अनश्वर वस्तु है। दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अतएव यहाँ मुख्यार्थ का बोध होता है। अभिधा से तात्पर्य अनुपपन्न होता है फिर लक्षणा का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि जहाँ अभिधा परस्पर विप्रतिसिद्ध या असंगत अर्थ दे और जहाँ कोई प्रयोजन या रूढि हो वहाँ लक्षणा का क्षेत्र होता है। यहाँ रूढ़ि कोई नहीं है। प्रयोजन तू और वह का अभेदान्वय है। अस्तु यह लक्षणा का कार्य क्षेत्र है। 'तू' का क्या अर्थ है? 'तू' का अर्थ है आत्मा, न कि आनन्द, विज्ञान, बुद्धि मन, प्राण शरीर आदि। आत्म बोध स्वरूप है। 'वह' आभ्यंतर वस्तु ही नहीं वैसे 'वह' भी वाह्य वस्तु ही नहीं है। 'वह का ग्रहण बिना' 'तू' के असम्भव है। अतः 'वह-तू' का नित्य सम्बन्ध है। दोनों समानाधिकरण है। दोनों एक है। 'तू' का वह अर्थ अप्रासंगिक है जो किसी नश्वर और क्षणिक वस्तु जैसे शरीर आदि का बोधक है। उसका वह अर्थ यहाँ अपेक्षित है जो सदा विद्यमान बोध स्वरूप साक्षी वस्तु है। इसी प्रकार 'वह' का भी नश्वरतापरक अर्थ अप्रासंगिक है। उसका वह अर्थ यहाँ ग्राह्य है जो सकलप्रपंच के सारभूत तत्व को बतलाता है। इस प्रकार जहत् अजहत् लक्षणा द्वारा तत्वमसि का अर्थ निकलता है कि प्रत्येक की आत्मा और परोक्ष सत् (ब्रह्म) दोनों में अभेद है। आत्मा ही सत् है और सत् ही आत्मा है। उपनिषद वाक्यों में से अधिकांश इसी अभेद-तत्व का प्रतिपादन करते हैं।

पुनश्च, अद्वैत वेदान्त ने वैपुल्यवाद का अपने सिद्धान्त से सामन्जस्य करने के लिए एक नए ढंग और वाद की अवधारणा दी है। इस ढंग को आलंकारिक शैली तथा सिद्धान्त को 'इववाद' कहा जाता है। आत्मा या परमार्थ सत् अद्वितीय तत्व है। वह कर्त्ता भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा कुछ नहीं है परन्तु ऐसा लगता है कि वह कर्त्ता, भोक्ता आदि है। इसी प्रकार जब आत्मा को अन्नमय, विज्ञानमय, मनोमय आदि कहा जाता है तो आत्मा के ही किसी उपलक्षण का वर्णन होता है फिर अन्नादि आत्मा के स्वरूप या लक्षण नहीं है अपितु वे आत्मा के केवल उपलक्षण हैं। इसी कारण आत्मा अद्वैत होते हुए भी द्वैत प्रतीत होती है। यहाँ प्रो० पाण्डेय का कहना है कि उपाधियों के कारण ही तत्व एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है। अतएव उपाधियों में गृहीत तत्व पारमार्थिक नहीं है। उसमें केवल तत्व की स्थिति मान ली जाती है। आत्मा कुछ न करते हुए भी कुछ करती हुयी सी ज्ञात होती है। आत्मा ध्यान न करती हुई भी ध्यान करती हुई सी ज्ञात होती है। इस प्रकार 'ध्यायतीव लेलायतीव,'[२०] आदि वाक्यों में याज्ञवल्क्य ने 'इववाद' या 'आलंकारिक शैली' का वर्णन किया है। इन वाक्यों के विश्लेषण से ही शंकराचार्य ने वैपुल्यवाद को आभास सिद्ध करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना की है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के लक्षण न होकर उपलक्षण हैं, उपलक्षण की स्थिति वास्तविक नहीं हैं, वह आलंकारिक वर्णनमात्र है। यही 'इववाद' है।

अद्वैत वेदान्त श्रुतिवाक्यों का भली-भाँति विश्लेषण करने के पश्चात् इन सबका समन्वय भी करता है। आचार्य वादरायण ने इस समन्वय को 'तत्तु समन्वयात्'[२१] नामक सूत्र में स्पष्ट किया है। अद्वैत श्रुति-तात्पर्य जानने के लिए छः हेतु देता है- उपक्रम-उपसंहार की एकता, अभ्यास या पुनरूक्ति, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। अद्वैत दर्शन वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य के लिए उन वाक्यों के विश्लेषणों को इन्हीं हेतुओं से समन्वित करता है। उपनिषद् वाक्यों पर विचार करना, उनका युक्तियुक्त विश्लेषण तथा समन्वय करना वेदान्त दर्शन की विशिष्ट प्रणाली है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि- उपक्रम-वल, तर्क प्रयोग और उपसंहार गौरव के कारण तर्क का तात्पर्य वही है जो श्रुति का अर्थात् तर्क इस अनन्यत्व के पक्ष में युक्तियाँ भी देता है। ऐसी ही अनन्यता का प्रतिपादन श्रुति करती है। स्वयं शंकराचार्य ने दिखलाया है कि

उपक्रम और उपसंहार की एकता, अभ्यास (भूयोभूयः कथन), अपूर्व, फल (मोक्ष) अर्थवाद (प्रशंसात्मक कथन) और उपपत्ति इन छः हेतुओं के आधार पर सभी श्रुतियों का तात्पर्य एकमात्र अनन्यत्व में है। यही नहीं श्रुति को मनन की अपेक्षा है और मनन श्रुतिपूर्वक है इसलिए श्रुति और तर्क दोनों के मंतव्य एक ही है।[२२]

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली का मेरूदण्ड युक्ति और अनुभव है। अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्ति हीन अनुभव अन्ध विश्वास है। इन्हीं दोनों की निरवद्यता पर अद्वैत की मनन विधि आधारित है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन अद्वैत प्रणाली के तीन क्रमिक सोपान हैं। श्रुति का विश्लेषण और समन्वय श्रवण है। अनुभव का विश्लेषण और श्रुति का निग्रह मनन है। निदिध्यासन निरन्तर मनन है, दूसरे शब्दों में हम उसे परिपक्व मनन कह सकते हैं। इसी कारण शंकराचार्य मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण की भाँति अवगति प्रधान मानते हैं।[२३] यही ज्ञान मार्ग है। जहाँ तक कर्म और ज्ञान के क्रम समुच्चय का प्रश्न है अधिकांश अद्वैत वेदान्ती कर्म और ज्ञान के क्रम समुच्चय को मानते है। कर्म की स्थिति में ज्ञान नहीं होता और ज्ञान की स्थिति में कर्म असंभव है। इस प्रकार यद्यपि वे सभी विशुद्ध ज्ञान मार्ग को मानते है तथापि उनका ज्ञानमार्ग विशुद्ध कर्ममार्ग का फल है। परन्तु कतिपय अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और कर्म के क्रम समुच्चय के भी पक्ष में नहीं है। उनका कहना है कि बिना सत्व शुद्धि के भी ज्ञान मार्ग सुलभ है- 'विनाऽपि सत्वशुद्धिः ज्ञानेनैव मोक्षः सिद्धत्येव सत्यम्'। यहाँ मोक्षशब्द स्वास्थ्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कर्म से जीव बन्धन में पड़ता है, विद्या से ही वह बन्धन मुक्त होता है। अतः पारदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः।।"

इस सिद्धान्त को हम ज्ञानमार्ग कह सकते है, जिसका समर्थन अद्वैत वेदान्तियों ने किया है।

प्रातिभज्ञान या स्वानुभूति का उज्जीवन

एकात्ममूल्यवाद शांकर वेदान्त का अद्वैतवादी विकास है। इस वाद की चिंतन प्रणाली है तार्किक प्रातिभवाद। तार्किक प्रातिभवाद के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और युक्ति के वे ही कार्य मान्य है जो प्रातिभज्ञान के अनुकूल हैं। इसके अनुसार प्रातिभज्ञान प्रत्येक ज्ञान का मूल है, वही वास्तव में ज्ञान पद से वाच्य है, तर्क से ब्रह्म का ज्ञान सम्भव है और तर्क श्रुतिप्रमाण से अधिक बलवान है। इसमें चैतन्य को एक अखण्ड और सर्वव्यापी सिद्ध किया गया है। कोई विषय मात्र सदाकार और ज्ञानाकार नहीं है, अपितु परमार्थाकार भी है। उसके सदंश तथा ज्ञानांश उसके सम्पूर्ण रूप के विखण्डित और त्रुटित अंश है।

वैशेषिक मत के अनुसार बुद्धि, विद्या तथा अविद्या दो प्रकार की होती है। विद्या बुद्धि प्रमा और अविद्या-बुद्धि अयथार्थ या अप्रमा है। विद्या-बुद्धि भी प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति तथा आर्ष चार प्रकार की होती है। आर्ष-विद्या बुद्धि अतीत तथा अनागत वस्तु का ज्ञान है। नैयायिक आर्ष विद्या को योगियों के अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं। प्रशस्तपाद कहते हैं-

''ग्रन्थ वद्ध अथवा ग्रन्थावद्ध अतीन्द्रिय भूत-भविष्य-वर्तमान वस्तुओं का आत्मा तथा मन के विशिष्ट संयोग से अथवा वस्तु के लक्ष्य विशेष से वेद रचने वाले ऋषियों के ज्ञान को प्रातिभज्ञान कहते है।''[२४]

आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान इसी प्रातिभज्ञान से होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रातिभज्ञान अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान है। जहाँ इन्द्रियाँ नहीं जा सकती है, वह प्रातिभज्ञान का क्षेत्र है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि ज्ञान इन्द्रिय और मन से गोचर है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह ज्ञान बुद्धिगम्य नहीं है। यह बुद्धि का ही ज्ञान है। बुद्धि आत्मा की नियतवृत्ति है।

यह ज्ञान आत्मा और मन के संयोग से ही उत्पन्न होता है। पर यह पुरूष की विकल्पना के आश्रित नहीं है अपितु वस्तु के आश्रित है। वस्तु का यथातथ्य ज्ञान ही प्रातिभज्ञान है।

प्रातिभज्ञान प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियजन्य होता है। पर प्रत्यक्ष असर्वज्ञीय ज्ञान है जबकि प्रातिभज्ञान सर्वज्ञीय ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुतः किंता या किमर्थवत्ता का ज्ञान है। ब्रैडले के शब्दों में यह 'क्या' (the what) का ज्ञान है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है- सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो किमर्थवत्ता का ज्ञान है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न तो प्रमा है और न ही अप्रमा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में केवल अनुभूति मात्र होती है, उसका अर्थीकरण नहीं होता है। इस प्रत्यक्ष में केवल इदंता (thisness) रहती है और केवल पदार्थों की इन्द्रिय गोचर प्रत्यासत्ति रहती है। इसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान में भी इदंता रहती है। प्रातिभज्ञान में सविकल्पक प्रत्यक्ष की भाँति इदंता को किमर्थवत्ता या किंता नहीं समझा जाता है वरन् इदंता को तत्व या तथता (thatness) समझा जाता है। प्रातिभज्ञान में किंता का वृथात्व प्रकट रहता है। एकमात्र तत्व ब्रह्म है, वही इदम् (this) के रूप में इन्द्रियगोचर होता है।[२५] पर इस 'इदम्' का सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा जगत् अर्थ लगाया जाता है। यह जगत् इदम् पर आरोपित अर्थ है न कि उसका यथातथ्य ज्ञान। यथातथ्य ज्ञान वह है जिसमें कोई वस्तु (तत्) अपने निजस्वरूप तत्व द्वारा ज्ञात होती है। इसीलिए यथातथ्य ज्ञान को 'तत्वज्ञान' कहते हैं। यह तत्वज्ञान स्वानुभूति या प्रातिभ ज्ञान से ही सम्भव है। इदम् से जगत् की प्रतीति मिथ्या है। इदम् से तो सदा ब्रह्म का ही रूप प्रकट होता है। शंकराचार्य का भी यही मत है- 'इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते।[२६] आरोपित जगत् तो केवल किमर्थवत्ता है- 'आरोपितस्याति किमर्थवत्ताधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण'।[२७]

प्रातिभ ज्ञान या स्वानुभूति सत् का साक्षात्कार है। इसीलिए इसे भारतीय दर्शन में 'दर्शन' नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अन्य पर्याय बुद्धि, मति, दृष्टि और ज्ञान है ज्ञान शब्द का प्रयोग प्रायः अनुभव के सामान्य अर्थ में भी किया जाता है। अतः ऐसे ज्ञान को प्रतिभज्ञान कहना ही औचित्यपूर्ण लगता है। यह प्रातिभज्ञान अपरोक्ष है। वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि यदि ज्ञान को परोक्ष मान लिया जाय तो फिर अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति असंभव हो जाएगी- 'परोक्षत्वेऽपरोक्ष भ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः'।[२८] भ्रम अपरोक्ष या साक्षात् ज्ञान है, इसका

निवारण किसी परोक्षज्ञान से नहीं हो सकता है। कोई साक्षात् ज्ञान ही भ्रम को दूर कर सकता है। इसी कारण सत्यज्ञान अपरोक्ष या साक्षात् ज्ञान होता है। यह ज्ञान भ्रम संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि अज्ञानों को दूर कर देता है।

प्रातिभज्ञान भ्रम निवारक है। निषेध सदा विधिमूलक होता है। जब हम नेति-नेति कहते हैं तो यह किसी विधायक प्रातिभज्ञान के आधार पर ही कहते हैं। इसी प्रकार संशय-विपर्यय भी अपने निवारक की ओर संकेत करते हैं। प्रातिभज्ञान में प्रमा-अप्रमा या संशय नहीं होता है। वह प्रमा मात्र है। जो सभी अप्रमाओं को दूर कर देती है, वह अप्रमा कैसे हो सकती है? जिस प्रकार प्रकाश अंधकार को दूर करता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान को दूर करता है।

अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान प्रातिभज्ञान है। यह चाक्षुष ज्ञान नहीं है। यह बौद्धिक ज्ञान भी नहीं है। बौद्धिक ज्ञान परोक्ष है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी रहती है किन्तु अन्तर्दृष्टि में यह त्रिपुटी नहीं रहती है, वह अपरोक्ष ज्ञान है। इसको अपरोक्ष अनुभव, सद्यः अनुभव, साक्षात् अनुभव या भावना भी कहा जाता है। यही साक्षात्व है। अपरोक्ष अनुभव प्रातिभज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान पूर्णतः अपरोक्ष है, इस ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक है, यहाँ तत्व को जानना तत्व होना है। आत्मा का ज्ञान प्रातिभबोध का एक उदाहरण है। किन्तु प्रातिभज्ञान हमारी आत्मा के संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। जैसे हमारी आत्मा अधिक विकसित होती है, वैसे हमारा प्रातिभज्ञान भी विस्तृत होता है। जीवन की गहन वस्तुयें केवल प्रातिभ बोध के द्वारा जानी जाती है। हम उनके सत्य की प्रत्यभिज्ञा करते है न कि उनके बारे में तर्कणा करते हैं। पुनश्च, प्रातिभज्ञान सत्य ज्ञान है। अपरोक्षता उसका लक्षण है, उसके विषयों का व्यक्तित्व है। अपरोक्षता के अन्दर प्रत्यक्ष कल्पना तथा भावनाओं का समावेश होता है। वह शुद्ध संवेदना के समान निष्क्रिय और निरर्थक नहीं है। प्रातिभज्ञान अनिवार्यतः प्रकाशक या व्यंजक है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रातिभज्ञान स्वयं एक अभिव्यक्ति है। प्रतिभान स्वयं सृजनात्मक कला है, कलाकार तो साधारणतया केवल वह मानव है जिसके प्रतिभान असाधारण रूप से निर्मल और स्पष्ट हैं और जो उन्हें भौतिक रूप प्रदाता है।

स्वानुभूति या अपरोक्षानुभूति कोई विशिष्ट अनुभूति नहीं है जो समाधि की ही अवस्था में जानी जा सके। यह समस्त ज्ञान का अनुषंगी है। यह द्विविध है- (१) एक वह अपरोक्षता है जिससे हमारा अनुभव आरम्भ होता जैसे 'यह पुस्तक है'-यहाँ 'यह' का ज्ञान। (२) एक वह अपरोक्षता है जिसमें हमारे ज्ञान का पूर्ण विकास होता है, यह परमतत्व का ज्ञान है जो अभेद ज्ञान इन दोनों अपरोक्षताओं के मध्य समस्त परोक्ष ज्ञान है जिसका लक्षण सम्बन्धयुक्त होना है। पहली अपरोक्षता वह अनुभूति है जिसमें कोई भेद या सम्बन्ध उत्पन्न ही नहीं हुआ है, और दूसरी अपरोक्षता वह अनुभूति है जिसमें सभी भेद या सम्बन्ध उत्पन्न होने के बाद एकीकृत हो जाते हैं। परोक्ष ज्ञान में भी अपरोक्ष अनुभव रहता है। इस अपरोक्ष का मुख्य लक्षण है- ज्ञान और सत् का एकमेक होना है। यही अपरोक्षता परोक्ष ज्ञान को गतिशील बनाती है, उसको सार्थकता प्रदान करती है। बर्गसाँ के शब्दों में कहें तो उसको सप्राण बनाती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि अपरोक्ष अनुभव कोई अवस्था नहीं है जो किसी समय हो सकता और किसी समय समाप्त हो जाता है। प्रत्येक सम्बन्ध और प्रत्येक भेद सदैव एक अपरोक्ष पृष्ठभूमि पर आधारित है।

यह मत औपनिषदिक 'एतद् वैतद्' (यह वह है) की अवधारणा से साम्य रखता है। ब्रैडले ने इसी को 'यह तत्व' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि हमें 'यह, वह' (एतद्, तत्) में जिस सत्ता का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, उसी को निश्चित अर्थ में जानना तत्व हैं यही तत् के भाव की अपरोक्षानुभूति है।

प्रातिभज्ञान के दो अंग है- प्रतिषेधात्मक और विध्यात्मक। प्रातिभज्ञान के प्रतिषेधात्मक स्वरूप की उत्पत्ति विचार से होती है। हम विचार करने पर जानते हैं कि 'हम' शरीर आदि से भिन्न है। 'नाहम् देहोऽसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः।' मैं असद्रूप शरीर नहीं हूँ, इसी को ज्ञान कहते हैं। आत्मा शरीर-इन्द्रिय मनः प्राण विज्ञानादि से व्यतिरिक्त है। इस व्यतिरिक्तता का ज्ञान सत्य ज्ञान है। प्रातिभज्ञान का विध्यात्मक स्वरूप उसका प्रातिभासिक ज्ञान है 'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम।' श्रुतियों ने ब्रह्म और आत्मा के विशेष ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माना है।

'ब्रह्मैवाहं शमः शान्तः सच्चिदानन्द लक्षणः।' इसी को सत्य ज्ञान कहते हैं। मैं सच्चिदानन्द लक्षण वाला शम शान्त ब्रह्म ही हूँ- यही ज्ञान का विध्यात्मक स्वरूप है।

वेदान्त में प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति विषयक दो मुख्य मत प्रचलित है पद्मपादाचार्य का विचार है- "तत्वमसि इत्यादि वैदिक वाक्यों से ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है।" ज्ञान की अपरोक्षता इन्द्रिय विशेष से उत्पन्न नहीं होती है। ज्ञान श्रुतिगम्य है। श्रुति का वाक्यार्थ जान लेने पर हमें भी ज्ञान हो सकता है। परन्तु वाचस्पति मिश्र का मत है कि ज्ञान इन्द्रियज है। वह विषय विशेष से उत्पन्न नहीं होता है। एक ही सूक्ष्म वस्तु को पटु तथा अपटु इन्द्रिय क्रमशः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करती है। इसी प्रकार कुछ पटु प्रातिभज्ञान विशेष रूप से करते हैं और कुछ अपटु बिल्कुल नहीं करते। ब्रह्म साक्षात्कार का कारण मनन और निदिध्यासन से परिष्कृत मन है। मन के द्वारा ही ब्रह्म को देखना चाहिए। 'मनसैवानुद्रष्टव्यः', यह श्रुति कहती है। शंकराचार्य का कहना है कि वेदवाक्यार्थ के विचार से जो तात्पर्य-निश्चय होता है, उससे ब्रह्म ज्ञान निष्पन्न होता है, अनुमानादि प्रमाणान्तर से निश्चय नहीं होता।[२९] प्रो० पाण्डेय का मत है कि मनन ज्ञान के लिए आवश्यक है। वेद वाक्यों से अपनी सामर्थ्य का पता लगाने के पश्चात् हम मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मबोध रूप ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। मनन ज्ञान से भिन्न नहीं है। तर्कशून्य में गन्धर्व नगर नहीं है। इसकी ज्ञान में प्रतिष्ठा है, इसकी विकृति या शुष्कता को दूर करने पर इसे ज्ञान प्राप्ति का द्वार बनाया जा सकता है।[३०] शंकराचार्य भी कहते है कि तर्क से भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।[३१] आगे वे कहते है कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति प्रमाण से ही हो सकता है और यह प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं होता है।[३२]

चरम सत्ता के ज्ञान और अस्तित्व में अभेद है। आत्मा का अस्तित्व और ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है। इसलिए ज्ञान और सत्ता की एकरूपता स्थापित की जाती है। ज्ञान समग्र और सम है, यह नानात्व का ज्ञान नहीं है अपितु केवल आत्म-ब्रह्म तादात्म्यरूप एक सत्ता का ज्ञान है। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों आ जाते हैं। प्रत्यक्ष वस्तुतः अप्रमा है। जब वह प्रमा हो जाता है तो प्रातिभ हो जाता है। अनुमान प्रत्यक्ष पर प्रतिष्ठित होता है। यदि इसका आधार

अप्रमा है तो वह सावद्य तर्क कहा जाता है और त्याज्य है। पर जब वह प्रमा अर्थात् सम्यग्ज्ञान पर आधृत रहता है तो वह निरवद्य और ग्राह्य है। यही शंक्रोक्त प्रतिपादित वेदान्त सिद्धान्त है।

ज्ञान और सत्ता की एकता के संदर्भ में प्रत्ययवादी मानते है कि आत्मा की सत्ता और आत्मा का ज्ञान एकमेव है। इसके विपरीत अनुभववादी संवेदना से प्राप्त प्रदत्त के बारे में ज्ञान और सत्ता को एक मानते हैं। ईश्वरवादी इन दोनों मतों को नहीं मानते हैं। उनके विचार से ज्ञान और सत्ता की एकता केवल ईश्वर में है। यदि सत्ता और ज्ञान की एकता को न माना जाय तो फिर सत्ता से ज्ञान का सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि काण्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के बारे में तत्वदार्शनिक युक्ति का खण्डन करते हुए ठीक ही कहा है- ईश्वर ज्ञान से ईश्वर नामक वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर बर्कले ने लाक के वस्तुवाद का खण्डन करते हुए उचित ही कहा है कि किसी भी प्रत्यय से उसके उत्तेजक सत् को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत शंकराचार्य ने भौतिकवाद की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा है कि-किसी वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। 'नहि भूतभौतिकेन सत्ता चैतन्येन भूतभौतिकान विषयीक्रियेरन्' इसी तथ्य को ग्रीन और ब्रैडले ने कहा है कि परमतत्व या अपरोक्ष अनुभव की उत्पत्ति किसी वस्तु से नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपरोक्ष अनुभव या परम तत्व के अन्दर ही है। इस प्रकार सत्ता और ज्ञान की अपरोक्ष एकता अनुभवसिद्ध है।[३३]

बैडले भी अपरोक्ष अनुभव को निरपेक्ष तत्व कहते हैं। जिस अपरोक्षता में तर्क अपनी आत्मपूर्ण अवस्था में डूबा है वह तर्क के लिए विदेशी नहीं है। वह तो उसके आद्यन्त जीवन का एक आवश्यक क्षण है। अपरोक्ष अनुभव का ही नाम आत्मा है। सभी विषय आत्मपूर्वक है। इस कारण अपरोक्ष अनुभव सभी विषयों का मूल है। किन्तु अपरोक्ष अनुभव कोई अवस्था नहीं है। वह आत्मज्ञान में वैसे ही है, जेसे वह अनात्म ज्ञान में है। आत्मा और अनात्मा का भेद भी अपरोक्ष अनुभव की भूमिका में ही होता है। इस कारण अपरोक्ष अनुभव को आत्मा या अनात्मा से एकीकृत नहीं किया जा सकता। शांकर वेदान्त तत् के अनुभव को, तत् के प्रत्यक्ष को भी

अपरोक्ष मानने को तैयार है किन्तु इसको अपरोक्ष इसलिए मानता है कि इसकी अपरोक्षता स्वयं प्रकाश आत्मा की अपरोक्षता है -

> "अयमित्य परोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम्।
> स्वयंप्रकाश चैतन्यमपरोक्षं सदा यतः।।"[३४]

इस विवेचन का निष्कर्ष है कि ज्ञान तर्क या अनुमान और प्रत्यक्ष का अविरोधी है। प्रातिभज्ञान तर्क तथा प्रत्यक्ष की आधार भित्ति है। नैयायिक जयन्त भट्ट ने न्याय मंजरी में लिखा है कि योगियों का प्रातिभज्ञान निर्मल और सर्वविषयक होता है और साधारण मनुष्यों को भी कभी-कभी कुछ अनागत विषयों का प्रतिभज्ञान होता है। पुनश्च उनका कहना है कि यदि यह प्रातिभज्ञान अनर्थजन्य, सन्दिग्ध, बाधपूर्ण और दुष्टकारण से उत्पन्न नहीं है तो प्रमाण है और यदि वह बाधित हो जाता है तो उसे अप्रमाण कहना चाहिए।[३५] सभी ज्ञान का लक्ष्य अनुभव ही है। प्रत्यक्ष अनुमान एवं श्रुति इत्यादि प्रमाणों का कार्य केवल इतना ही है कि वे प्रदर्शित करें कि आत्मा अनात्मा वस्तुओं से बिल्कुल पृथक है। अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक अध्यास को दूर करना ही श्रुति आदि प्रमाणों का कार्य होता है। आत्मज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्मबुद्धि की निवृत्ति करना ही प्रमाणों का कार्य होता है।[३६] ज्योंही अनात्म बुद्धि का निरास होता है, हम आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं जो हमारा स्वभाव ही है। यही अपरोक्षानुभूति है। अन्त में प्रो० पाण्डेय के शब्दों में हम कह सकते है कि अपरोक्ष अनुभूति सभी विषयों के ज्ञान में निहित रहती है। यह अपरोक्ष अनुभूति स्वात्मानुभव है जो सिद्ध करता है कि उससे भिन्न या अन्य जो कुछ है वह सत्य नहीं है। सत्य एक एवं अद्वितीय है और वह स्वात्मानुभव है। यही प्रातिभज्ञान की पराकाष्ठा है जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति आत्मबोध या ब्रह्मात्मैक्य बोध में होती है।[३७]

ज्ञान और इच्छा के क्रम समुच्चय का विवेचन

मानव एक चिंतनशील प्राणी है, चिंतनशीलता उसका प्रधान गुण है जो कि बुद्धि, भावना, ज्ञान, इच्छा इत्यादि संप्रत्ययों को निरूपित करती है। मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति द्विविध रूपों में होती है, जिनमें एक वाह्य स्वरूप तथा दूसरा आभ्यंतर स्वरूप है। वाह्य स्वरूप का सम्बन्ध वाह्य विषयों के ज्ञान से है जिसके अन्तर्गत घट, पट, रूप, रंग आदि को देखना, समझना, कल्पना करना आदि आता है। जबकि चेतना के आंतरिक संकल्प कर्म, राग-द्वेष, कामना, इच्छा इत्यादि आभ्यंतर स्वरूप के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार चेतना के प्रथम पक्ष को 'जानना' या ज्ञान की संज्ञा और दूसरे पक्ष को 'इच्छा' की संज्ञा दी जाती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि चेतना के इन दोनों स्वरूपों और पक्षों में क्या सम्बन्ध है? यदि चेतना एक और अखण्ड है तो इन दोनों पक्षों के रहते वह कैसे एक और अखण्ड हो सकती है? यदि वह इन दो अंगों में विभक्त है तो हमें अपनी चेतना का अनुभव क्यों होता है? वास्तव में ज्ञान और इच्छा चेतना की दो कलायें है और चेतना अविकल नहीं है अपितु कलावती है। इन दोनों कलाओं को शक्ति भी कहा जाता है जिससे इन्हें ज्ञान, शक्ति और इच्छा शक्ति भी कहा जाता है। ज्ञानशक्ति को इच्छा शक्ति से परस्पर इतना भिन्न किया जाता है कि उनका भेद विरोध प्रतीत होने लगता है। जैसे, इच्छा कर्म प्रधान होती है और उसका कर्म कोई परिनिष्ठित वस्तु नहीं है अपितु वह सदा क्रियमाण रहता है। इसके विपरीत ज्ञान, अकर्म प्रधान है और उसका विषय कोई परिनिष्ठित वस्तु है। ज्ञान वस्तु तंत्र होता है और कर्म पुरूष तंत्र। ज्ञान अपने विषय को अन्यथा ग्रहण करता है तो वह उसका दोष माना जाता है और तब वह ज्ञान न होकर अज्ञान हो जाता है। अग्रहण और विपरीत ग्रहण से भिन्न विषय का जो यथार्थ ग्रहण

होता है, वह ज्ञान है। जिस प्रकार ज्ञान एक रूप होता है, उसी प्रकार कर्म एक रूप नहीं होता है। ज्ञान का सम्बन्ध तथ्य से है जबकि कर्म का सम्बन्ध मूल्य या पुरूषार्थ से है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म में महान अन्तर है।

इस अन्तर के कारण कुछ विचारक मानते हैं कि चेतना का वास्तविक स्वरूप ज्ञान है और वह कर्म या इच्छा से शून्य है। वास्तव में वह कर्म और इच्छा से अनासक्त है। दूसरे लोग कहते हैं कि इच्छा ही चेतना का वास्तविक स्वरूप है और ज्ञान या जानना तब तक संभव नहीं है जब तक कि इच्छा द्वारा किसी विषय की उत्पत्ति न कर दी जाय। इच्छा के बिना स्वयं जानना या ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान का मूल जिज्ञासा या जानने की इच्छा ही है। अस्तु इच्छा शक्ति ही चेतना है जो विषयों की सृष्टि करती है, तत्पश्चात् उनको जानती है। ज्ञान इच्छा के अधीन है तथा इच्छा ज्ञान के अधीन नहीं है। ऐसे में अनेक विचारक इच्छा और चेतना के समीकरण को प्रस्तावित करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन में देकार्त ने चेतना और ज्ञान के समीकरण के लिए 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ, (Cogito-Ergosum) का सूत्र दिया है। इसके विपरीत कतिपय विचारकों ने इच्छा और चेतना के समीकरण को 'मैं इच्छा करता हूँ इसलिए मैं हूँ' (Volo-Ergosum) सूत्र के रूप में अभिव्यक्त किया है। उन्नीसवीं सदी में हेगल प्रथम मत के प्रबल समर्थक थे और उनके समकालीन दार्शनिक शोपेनहावर दूसरी विचार धारा के समर्थक थे। पूर्व में काण्ट ने अपने ग्रन्थ 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न' में ज्ञान को चेतना का एक मात्र लक्षण माना है तथा 'क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया कि चेतना का प्रमुख लक्षण इच्छा है। इस प्रकार इच्छा और ज्ञान विषयक तीन मत पाश्चात्य दर्शन में प्रचलित है परन्तु इनमें ज्ञान और इच्छा के बीच जो अद्वैत सत् है, उस पर विचार नहीं किया गया है। इस संदर्भ में अद्वैत वेदान्त पाश्चात्य मत से अधिक युक्ति संगत है क्योंकि उसमें इच्छा और ज्ञान के अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान और इच्छा को एक दूसरे का विरोधी मानना, इन दोनों में से किसी एक मत का ही समर्थन करना और दूसरे का निषेध करना तथा इन दोनों के क्षेत्रों को

पृथक-पृथक मानते हुए तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र को मानते हुए भी उनकी तात्विक एकता को अस्वीकार करना आदि पश्चिमी दर्शन की कमियाँ है। अद्वैत वेदान्त मत इन दोषों से मुक्त है। अतः प्रो० पाण्डेय ने इच्छा और ज्ञान के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करके पाश्चात्य दर्शन को अद्वैत वेदान्त के सन्निकट लाने का प्रयास किया है तथा अद्वैत वेदान्त के इस मत को अग्रसर करते हुए उसकी अध्यात्मविद्या को समकालीन विश्व का सर्वश्रेष्ठ दर्शन सिद्ध किया है।[३८]

वेदान्त के अनुसार 'सत्' एक और अद्वितीय है किन्तु वह 'सत्' क्या है? इस विषय पर बड़ा मतभेद है। उपनिषदों में कहा गया है कि वह सत् इच्छा से युक्त है और इस कारण वह स्वतंत्रेच्छा है। स्वेच्छा से वह जो कर्म करता है, उसे सृष्टि कहा जाता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है- 'सत् ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और सृष्टि करूँ।[३९] यहाँ सत् को इच्छावान दिखाने का तात्पर्य यह है कि सत् चैतन्य है और चैतन्य का लक्षण इच्छा करना है।

वादरायण ने कहा है- 'ईक्षतेर्नाशब्दम्'[४०] अर्थात् परमसत् ईक्षण करके सृष्टि करता है और सृष्टि का मूल कारण वही है। शंकराचार्य 'ईक्षण' पद की व्याख्या में कहते हैं कि इस ईक्षण का अर्थ सर्वज्ञता है याज्ञानमय तप है। इससे सिद्ध होता है कि सत् साक्षि चैतन्य है और उसके लिए ज्ञान तथा इच्छा में अभेद है। अर्थात् इच्छा ज्ञान रूप है और ज्ञान इच्छा रूप है। 'ईक्षण्' धातु का भी अर्थ निरीक्षण करना और इच्छा करना दोनो होता है। इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार जो सत् है वह इच्छा है और इच्छा ज्ञान को ठीक वैसे ही आपादित करती है, जैसे धूमअग्नि को सिद्ध करता है। अन्वय व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा इच्छा और ज्ञान का समीकरण सिद्ध किया जाता है। जो इच्छावान है वह ज्ञानवान है, जैसे- मैं स्वयं हूँ। जो ज्ञानवान नहीं है वह इच्छावान नहीं है, जैसे घट। इस प्रकार इच्छा और ज्ञान में अविनाभाव स्पष्ट है, किन्तु वेदान्त में इस अविनाभाव से भी अधिक गहन अद्वैतता पायी जाती है। इस कारण अविनाभाव का भी आधार अद्वैत है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान और इच्छा को लेकर क्रमशः ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग बने है। अद्वैत वेदान्त में जैसा कि प्रो० पाण्डेय ने दिखाया है कि कर्ममार्ग भी संयोग, पृथकत्व न्याय से

वही व्यापार करता है जो व्यापार ज्ञानमार्ग अध्यारोप और अपवाद के द्वारा करता है। अतएव इन दोनों मार्गों में अद्भुत ऐक्य है जो सिद्ध करता है कि ज्ञान और इच्छा का भेद असत्य है और यथार्थतः इन दोनों में अभेद है।[41] आनन्द अनिवार्य रूप से ज्ञान (चित्) और इच्छा (सत्) से जुड़ा है। अतः जो सत् और चित् है वह आनन्द भी है। सत्, चित् और आनन्द ये न तो तीन तत्व है और न तीन गुण। ये वास्तव में तद् के वाचक हैं अर्थात् जो एक और अद्वितीय सत् है। उसी का निर्देश ये तीनों पद पृथक्-पृथक् या मिलकर करते हैं। प्रो० पाण्डेय ने उन समकालीन वेदान्तियों के मतों का खण्डन किया है, जो मानते हैं कि सत् ब्रह्म है, चित् ब्रह्म है, आनन्द ब्रह्म है या जो ब्रह्म है, वह विकल्प से सत् चित् और आनन्द है, या सबसे व्यापक सत् है, उससे कम व्यापक चित् और सबसे कम व्यापक आनन्द है। जो लोग सत्, चित् और आनन्द की कल्पित अवधारणायें करते हैं, उनका मत शांकर वेदान्त से असिद्ध है या उसके बहिर्गत है। वास्तव में सत्, चित् और आनन्द में कोई तात्विक भेद नहीं है। वे अखण्डार्थ का प्रतिपादन करते हैं, इस प्रतिपादन में उनका वाच्यार्थ छोड़ दिया जाता है और लक्ष्यार्थ लिया जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि 'तद् लक्ष्यते, न तु उच्यते' अर्थात् तत् को हम लक्षित करते हैं और उसका कथन या अभिधान नहीं करते हैं। अतः लक्ष्य होते हुए भी सत् या तत् शब्द है।

शंकराचार्य न कुमारिल के दर्शन से ही सिद्ध किया है कि वेद का अर्थ कर्म का अवबोध है, 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मा व बोधनं'।[42] अतः कुमारिल का कहना है कि सभी वेदवाक्य क्रियार्थक हैं, उनके ही कथन से गलत सिद्ध हो जाता है क्योंकि वे स्वयं मानते हैं कि वेदवाक्य ज्ञान परक भी हैं। पुनश्च, यदि सभी वेद वाक्य क्रियार्थक हैं तो प्रतिषेध वाक्यों की व्याख्या नहीं की जा सकती है क्योंकि वे प्रवृत्ति मूलक न होकर निवृत्ति मूलक हैं और जो भी निषेध संभव है उसका आधार कोई न कोई स्वीकारात्मक ज्ञान निर्देशात्मक वाक्य ही होता है। अतः इन युक्तियों से सिद्ध है कि जहाँ कहीं कर्म और उपासना का वर्णन वेदों में आता है वहाँ कर्म और उपासना की पृष्ठभूमि में तत्वज्ञान निहित है और तत्ववाद ही वेद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ज्ञान का आरम्भ बिन्दु जिज्ञासा है। जिज्ञासा का अर्थ जानने की इच्छा है। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान का अन्तर्भाव इच्छा में है। इच्छा को शक्ति

कहा जाता है क्योंकि वह सामर्थ्य रूप से चैतन्य के सभी प्रकार्यो में विद्यमान रहती है। जब इस शक्ति का विकास हो जाता है तब उसे प्रकार्य भेद से ज्ञान, भावना, भक्ति इत्यादि कहा जाता है। यदि इच्छा को अधिक शक्तिशाली बनाया जाय और संकल्प दृढ़ हो जाय तो धर्मज्ञान अवश्य धर्म कर्म में परिणित होगा, अन्यथा दृढ़ संकल्प के अभाव में ज्ञान और आचरण का अन्तर बना रहेगा। इसीलिए आचारवान को ज्ञानवान कहा गया है और जो अपने ज्ञान पर तदनुकूल आचरण नहीं करता, वह पाखण्डी या धूर्त है। सच्चा ज्ञान का अभेद सदाचार से रहता है। इसी कारण ज्ञान और दर्शन को चरित्र से युक्त किया गया है।[४३] यही संदर्शन है, जो यह बताता है कि चैतन्य अपनी सभी शक्तियों को जब एक दूसरे से सुसंगत कर लेता है, तब उसी सुसंगत चैतन्य का नाम ज्ञान है। यही ज्ञान और इच्छा या आचरण का समुच्चय है।

सन्दर्भ

१. 'न धर्म जिज्ञासायामिव श्रुत्यादयो एवं प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्' शारीरक भाष्य-१.१.२

२. जैमिनि सूत्र, १.२.१

३. शारीरक भाष्य, १.१.४

४. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, साहित्यवाणी, इलाहाबाद, १९७३, पृ० ६०

५. सदाचारानुसंधानम्, २६

६. अपरोक्षानुभूति, ११३

७. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ६२

८. माण्डूक्यकारिका, २/४-११

९. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, २००१, पृ० ६६

१०. सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह, ५८०

११. तर्काप्रतिष्ठानात्, ब्रह्मसूत्र, २.१.११

१२. शारीरकभाष्य, २.१.११

१३. भगवद्गीता, ४/४०

१४. शारीरक भाष्य, २.३.१

१५. 'परसेप्टुअल वैलिटिडी' लेख-प्रो० संगम लाल पाण्डेय

१६. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ७०

१७. माण्डूक्योपनिषद्, ७

१८. माण्डूक्यकारिका, ४/८३.८४

१९. सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह, २९५

२०. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.३.७

२१. ब्रह्म सूत्र, १.१.४

२२. शंकर मिश्रः अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष, सत्य प्रकाशपाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहाबाद १९९०, पृ० ११

२३. 'मनन निदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्', शारीरक भाष्य-१.१.४

२४. "आम्नायविधातृणामृत्रृषिणामती तानागत वर्तमानेष्वर्थेष्वतीन्द्रियेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्मनसो संयोग विशेषाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रतिभम् यथार्थ निवेदन ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते- प्रशस्तपाद भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित (चौखम्भा), पृ० २०८-२०९

२५. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३३

२६. विवेक चूड़ामणि, श्लोक २३८

२७. वही, श्लोक २३७

२८. वेदान्त परिभाषा, डॉ० गजानन शास्त्री 'मुसलगावंकर,' चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी १९८३, पृ० ३८५

२९. वाक्यार्थ विचारणाध्यवसान निर्वृता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादि प्रमाणान्तर निवृत्ता। शंकराचार्य

३०. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३५

३१. 'तर्केणापि ज्ञातुं न शक्यते, शंकराचार्य माण्डूक्यकारिका भाष्य, ३.१

३२. शारीरक भाष्य, १.१.२

३३. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ४०

३४. पंचदशी, तृप्तिदीप प्रकरण, २११

३५. न्यायमंजरी, पृ० १०६

३६. 'तस्माद्ज्ञान यत्नो न कर्त्तव्यः, किन्त्वनाम् बुद्धि निवृत्तौ एव। शंकराचार्य, गीताभाष्य, १८, ५०

३७. ह्विदर इडियन फिलासोफी, संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद १६७८, पृ० ३५६-३७०

३८. अद्वैत परिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, २००२, पृ० ५८

३६. 'तद्ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति', छांदोग्योपनिषद्, ६.२.३

४०. ब्रह्मसूत्र, १.१.५

४१. अद्वैतपरिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डॉ० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० ५६

४२. शारीरकभाष्य, १.१.४

४३. 'सम्यग् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्गः', तत्वार्थसूत्र, १.१

चतुर्थ अध्याय

अद्वैत वेदान्त की तर्कना-पद्धति
तर्क की अप्रतिष्ठितत्व दोष से प्रतिरक्षा
शंकराचार्य के प्रसंगानुमान

चतुर्थ अध्याय

अद्वैत वेदान्त की तर्कना-पद्धति

वैदिक कालीन ऋषियों ने एकाधिदेववाद या एकदेववाद को उद्भावित करते हुए नानात्वपूर्ण जगत् के मूल में एक परम सत् का दर्शन किया है। उन्होंने परम सत् तक पहुँचने में अथवा उसका निर्वचन करने में जिस तर्कना पद्धति का प्रयोग किया उसे 'द्वन्द्व न्याय' कहा जा सकता हैं। द्वन्द्व न्याय हमें अनेकता से एकता की ओर ले जाता है और फिर अनेकता को एकता पर आश्रित करता है या अनेकता का निषेध कर देता है। नासदीय-सूक्त में द्वन्द्व न्याय का प्रयोग अधिक विकसित रूप में हुआ है। इस सूक्त में परमतत्त्व की एकता और विशिष्टता का अधिक सफलता पूर्वक निरूपण हुआ है। 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानी'[1] तब वहाँ न असत् था और न सत् ही था। पुनश्च, वह इस निर्णय पर पहुँचता है- 'आनीदवातंस्वधयातदेकं'[2] तब केवल एक था जो वायु के बिना स्वयं श्वांस लेता था, उससे पृथक तथा परे कुछ भी नहीं था। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत् और असत् पक्ष और विपक्ष है तथा 'तदेकं' उन दोनों के परे और उन दोनों में व्याप्त है।

उपनिषदों की तर्कना-पद्धति एक विशेष प्रकार के द्वन्द्व न्याय का प्रयोग करती है। वह भले ही प्लेटो और हीगेल के द्वन्द्व न्याय से साम्य न रखती हो किन्तु उसमें द्वन्द्व न्याय के तत्त्व अवश्य विद्यमान है। नासदीय-सूक्त का 'तदेकं' उपनिषद के ऋषियों के समक्ष एक पक्ष के रूप में विद्यमान था। उसके विपरीत उन्हें विपक्ष के रूप में जगत का 'नाना' अर्थात्- वैविध्य प्राप्त हुआ। यह एक और नाना का भाव सापेक्ष है। दोनों में से एक भी निरपेक्ष परम सत् नहीं हो सकता है। अतः इन दोनों के मूल में विद्यमान 'अद्वैत'[3] परम सत् निर्धारित किया गया। यह अद्वितीय एक और अनेक की सापेक्षता से मुक्त और दोनों का आश्रय है। उपनिषद वैदिक सूक्तों के

प्रभाव से मुक्त नहीं थे। अतः वे उस अद्वितीय वस्तु को 'एकमेवाऽद्वितीय' भी कहते हैं। प्रो० पाण्डेय का मत है कि यह द्वन्द्व न्याय अगली सीढ़ियों पर अद्वैत और द्वैत से अनन्त पर, अनन्त और सान्त से भूमा पर, भूमा और अल्प से ब्रह्म पर, ब्रह्म और अहं से तत्त्व पर और तत्त्व तथा विषय-विषयी भाव से आत्मा पर पहुँचा है। उसी को सम्बोधन कर 'एतदवैतद', 'सोऽहमस्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्माब्रह्म' आदि उद्घोषणाएँ की गयी हैं।[४]

उपनिषदों के द्वन्द्व न्याय की सबसे बड़ी विशेषता परमसत् में विरोधी लक्षणों का आरोप या निषेध करना है। इस प्रकार के द्वन्द्व न्याय का अन्वेषण और विकास नासदीय सूक्त के 'न सत्- न असत्' निर्वचन से हुआ और सफलतापूर्वक विकसित होकर अनिर्वचनीय सत् के निर्वचन में समर्थ हुआ है। उदाहरण के रूप में, ईशोपनिषद कहता है, "वह (परम सत्) अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, किन्तु मन से तीव्र गति वाला है। इसे इंद्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गति शीलों को अतिक्रम कर जाता है।[५] पुनः "वह चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है ओर समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही सबके बाहर भी है।"[६]

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपनिषदों का द्वन्द्व न्याय परम तत्त्व के निरूपण में ही नियुक्त रहा है। उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक नहीं है या बहुत कम है। किन्तु उनके बाद की रचनाओं में उसका खण्डनात्मक रूप उग्रता धारण करता गया। प्राचीन दार्शनिकों में गौड़पाद और आधुनिक दार्शनिकों में श्री हर्ष, चित्सुख आदि इसे खण्डन का तीक्ष्ण अस्त्र बना लेते हैं।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार वादरायण ब्रह्मसूत्रों में जो तर्कना-पद्धति प्रयुक्त हुई है वह उपनिषदों से भिन्न है। इसे 'परिश्रान्ति-निरूपण' विधि[७] कह सकते हैं। इस विधि में समस्त संभावित विपरीत मतों का खण्डन कर प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक मान लिया जाता है। सांख्य अचेतन कारणवाद का खण्डन कर ब्रह्मसूत्र में चेतन कारणवाद की स्थापना इसी विधि से की गयी है। उसके अनुसार अचेतन वस्तु से जगत् की उत्पत्ति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियों के अनुसार जगत् का कारण ईक्षण-कर्त्ता है (सूत्र १.१.५), उसके लिए आत्मा शब्द का

प्रयोग किया गया है (सूत्र १.१.६), उसके ज्ञान से मोक्ष का उपदेश है (सूत्र १.१.७), उसे हेय नहीं कहा गया है (सूत्र १.१.८), वह सत् शब्द वाच्य है (सूत्र १.१.६) सब वेदान्तों का कारण ज्ञान समान है (सूत्र १.१.१०)। इस प्रकार चेतनकारणवाद का यह प्रतिपादन शंकर की दृष्टि में न्याय पूर्वक प्रतिपादन (न्याय पूर्वकं प्रतिपादितम्) है।[८]

भगवद्गीता में परम तत्त्व के विषय में सामान्य रूप से उद्घोषणायें मात्र हैं। परमात्मभाव में स्थित श्री कृष्ण कहते हैं- 'माया तत्मिदं सर्वम्'[९] यह समस्त जगत् मुझ से ही परिपूर्ण है, यहाँ सब कुछ मैं ही हूँ। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' मैं अमृत (अविनाशी) और मृत (विनाशी) तथा सत् असत् दोनों ही हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि परमतत्त्व वह वस्तु है जो सत् और असत् दोनों रूपों में व्यक्त हो रही है और वह स्वयं न सत् है और न असत्। उसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए आगे कहा गया है - 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तान्नासदुच्यते'[१०] अनादि परब्रह्म न सत् कहा जा सकता है और न असत्, सत् और असत् सापेक्ष और विरोधी हैं। निरपेक्ष तत्त्व इन दोनों से परे और इनका आश्रयभूत है।

गौडपादाचार्य की तर्कना-पद्धति

गौडपाद के जीवन काल तक दर्शन की सभी शाखाओं में पर्याप्त विकास हो चुका था। अतः खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में तर्क का आश्रय लेना स्वाभाविक था। बौद्ध दर्शन की माध्यमिक शाखा ने समस्त अन्य दर्शनों में अन्तःव्याघात दिखाने के लिए चतुष्कोटिक न्याय का सृजन किया। इस पृष्ठ भूमि में गौड़पाद ने अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में चिन्तन किया और उसे रहस्य की कोटि से उतार कर दर्शन के आलोक में ला खड़ा किया।

गौडपाद को इस कार्य में द्वन्द्व न्याय से बड़ी सहायता मिली। डा० एडवर्ड केयर्ड के अनुसार "यह विरोधी दर्शन पद्धतियों के विभाजन के मध्य पूर्वमान्य एकत्व के सिद्धान्त की ओर ले जाता है, जिससे एक ऐसा समुच्चयी प्रत्यय प्राप्त हो सके जिसमें समस्त विरोध और नानात्व

समा सके।"[11] इस प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए द्वन्द्व न्याय नानात्व को मिथ्या सिद्ध करता है और विभिन्न मतों को बौद्धिक प्रकल्पना मात्र मानता है।

गौडपाद के दर्शन में द्वन्द्व न्याय द्वारा जहाँ एक ओर अद्वैत का प्रतिपादन हुआ, वहीं दूसरी ओर जगत् का अजात्वाद सिद्ध हो गया। अन्य किसी दर्शन पद्धति में द्वन्द्वन्याय को यह पूर्णता नहीं मिली। अधिकांश दर्शन द्वैतवादी हैं, वे पदार्थों की सत्ता मानते हैं और एक अंतिम सत् तक नहीं पहुँच पाते। नागार्जुन ने समस्त पदार्थों का निषेध कर द्वन्द्व न्याय का एक पक्षीय प्रयोग किया, किन्तु वे सबका समन्वयकारी परमतत्त्व नहीं खोज पाये। उनका 'अद्वय' उनके एकपक्षीय द्वन्द्वन्याय का सूचक है। इसके विपरीत गौड़पाद का अद्वैत वह परम सत् है जिसमें समस्त नानात्व समाहित हो जाते हैं और उसका किसी से विरोध नहीं होता। अन्य सब मत कल्पित या वैतथ्य हैं। 'न पृथक नापृथक् किंचित'[12] कोई भी वस्तु न तो परम तत्त्व से पृथक है और न अपृथक है। वह सब आभास मात्र है।

जगत के नानात्व को आभास सिद्ध करने के लिए गौडपाद उसकी तुलना स्वप्न से करते हैं। जैसे स्वप्न मनः कल्पित है, इसलिए मिथ्या है, वैसे ही जगत भी मनःकल्पित है और मिथ्या है। इसके अतिरिक्त जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है। ये पदार्थ समूह असत् के समान होकर भी सत् जैसे दिखायी देते हैं। इतना ही नहीं, "अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति, ये क्रमशः चल, स्थिर, उभय रूप और अभावरूप चार कोटियाँ हैं, जिनसे अस्पृष्ट परमतत्त्व अद्वितीय और असंग है।"[13] इस प्रकार गौडपाद का द्वन्द्व न्याय न जगत की सत्ता मानता है और न ब्रह्म को उसका कारण मानता है।

शंकराचार्य का द्वन्द्वन्याय

डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता के अनुसार शंकर ने गौडपाद के निर्णय को स्वीकार कर लिया, किन्तु उनके द्वन्द्व न्याय को अपने मत प्रतिपादन में प्रयुक्त नहीं किया। उन्होंने केवल

अन्य मतों का खण्डन करने के लिए द्वन्द्व न्याय का प्रयोग किया।[94] शंकर के लिए उपनिषदों की शिक्षा स्वतः प्रमाण थी। यदि कहीं उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न कोई मत भ्रम उत्पन्न करता था तो शंकर ने वहाँ तर्क का सहारा लेकर उनके बीच एकवाक्यता लाने का प्रयास किया।

शंकर के अनुसार शब्द प्रमाण सर्वोपरि है। तर्क उससे नीचे दूसरी कोटि का है। यही दृष्टि उपनिषदों के ऋषियों की भी थी। परम सत् का ज्ञान तर्क या द्वन्द्व न्याय से नहीं हो सकता। शंकर को जहाँ तक निर्भ्रान्त वेदान्त वचन मिलता है, वे तर्क की आवश्यकता नहीं समझते। यदि उपनिषदों के वचनों में ही विरोध दिखायी देता है तो वे तर्क के द्वारा अद्वैत परक अर्थ निर्धारित करते हैं।

ब्रह्मसूत्र में 'तर्काप्रतिष्ठानात्'[95] पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं– 'निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठा भवन्ति'- श्रुति का आश्रय लिए बिना केवल पुरुष कल्पना मूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। वे तर्क तो कल्पना मात्र होते हैं और कल्पना निरंकुश होती है। एक व्यक्ति के द्वारा दिये गये तर्कों को दूसरा व्यक्ति आभास मात्र सिद्ध कर सकता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क तीसरे से निरस्त हो जायेंगे। इसलिए तर्क के द्वारा किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। शंकर के अनुसार लोकव्यवहार में तर्क भले ही उपयोगी हो या उसकी प्रतिष्ठा हो किन्तु परमार्थ वस्तु में तर्क का निर्णय अंतिम नहीं हो सकता। अतः यदि उपनिषद् 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' घोषित करते हैं तो शंकर उसी रूप में मान लेने का आग्रह करते हैं। ब्रह्म को सत्य स्वीकार कर लेने पर जगत् जैसा भासित होता है, सत्य नहीं हो सकता है। उसे इन्द्रजाल की रचना या मायिक होना ही चाहिए। शंकर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए कभी उस प्रकार तर्कों का प्रयोग नहीं करते, जैसा गौडपाद या माध्यमिक करते हैं। उनकी दृष्टि में इतना ही तर्क पर्याप्त है कि यदि ब्रह्म या परमात्मा सत्य है तो शेष सब नानात्व मिथ्या ही होना चाहिए।

शंकर अपने तर्क सीधे संसार को मिथ्या सिद्ध करने की अपेक्षा संसार को सत्य मानने वालों के मत का खण्डन करने में लगाते हैं। वे उनके मत में स्वतः व्याघात-प्रदर्शन कर उसे अप्रतिष्ठित घोषित कर देते हैं। यहीं शंकर का द्वन्द्व न्याय उपयोगी सिद्ध होता है। शंकर ने मीमांसा, सांख्य आदि दर्शनों में ही नहीं वरन् बौद्धों के विषयिनिष्ठ और शून्यवाद में भी उन्हीं से ग्रहीत द्वन्द्व न्याय के द्वारा अन्तः व्याघात दिखाया है। तर्क की सबसे सुन्दर और प्रभावशाली पद्धति यही हो सकती है कि प्रतिवादी तर्क के जिस अस्त्र का प्रयोग करे उसके द्वारा उसी के मत का खण्डन कर दिया जाय। उदाहरण के लिए हम परमाणुवाद पर शंकर के द्वन्द्व न्याय का प्रयोग देखेंगे।[१६] परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले, निवृत्ति स्वभाव वाले, उभय स्वभाव वाले अथवा अनुभय स्वभाव वाले माने जा सकते हैं। इन चार के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं हो सकती। प्रथम, प्रवृत्ति स्वभाव होने पर परमाणु नित्य प्रवृत्त रहने से प्रलय का अभाव प्रसंग होगा। दूसरे, निवृत्ति स्वभाव के होने पर परमाणुओं से सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा। तीसरे, प्रवृत्ति ओर निवृत्ति दोनों स्वभाव युगपत् होने पर परस्पर विरुद्ध होने के कारण असंगत है चौथे, प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय स्वभाव न मानें तो किसी अन्य कारणवश प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वीकार करने में अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने पर भी नित्य अप्रवृत्ति प्रसंग होगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

यहाँ प्रो० पाण्डेय का मानना है कि शंकर का द्वन्द्व न्याय हेगल के प्रत्ययवादी द्वन्द्व न्याय और मार्क्स के भौतिवादी द्वन्द्वन्याय से भिन्न है।[१७] हेगल ने जो प्रत्ययवादी द्वन्द्व न्याय दिया है वह भेद पर निर्भर है उनका कहना है कि भेद अभेदमूलक होता है तथा अभेद भेदोन्मुख होता है। इस कारण ज्ञान एक ओर खण्डन करता है तो दूसरी ओर खण्डन किये गये विषयों में अभेद भी देखता है। इस कारण ज्ञान वाद, प्रतिवाद एवं संवाद के तीन सोपानों को विकसित करता है। पहले वह कोई मत स्थापित करता है जिसे 'वाद' (Thesis) कहा जाता है। पुनः उस मत का विरोधी वाद को जन्म देता है, जिसे 'प्रतिवाद' (Antithesis) कहा जाता है। अन्त में प्रतिवाद का खण्डन तीसरे वाद द्वारा होता है जिसे 'संवाद' (Synthesis) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, एक अंडे से बच्चा उत्पन्न होता है और एक शिशु बालक होकर युवक बनता

है। अंडा 'वाद' है, अंडे के भीतरी भाग का धीरे-धीरे लोप होना 'प्रतिवाद है और अंडे में से बच्चा निकलना 'संवाद' है। शैशव वाद है, बाल्यावस्था प्रतिवाद है, युवावस्था संवाद है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद एवं संवाद की गति तब तक अबाध रूप से चलती रहती है जब तक कि निरपेक्ष प्रत्यय में सभी द्वन्द्वों एवं विरोधों का शमन नहीं हो जाता। प्रो० पाण्डेय के अनुसार अद्वैत वेदान्त की तर्कप्रणाली हेगल के द्वन्द्व न्याय का खण्डन करती है और एक ऐसा द्वन्द्व न्याय प्रदान करती है जो समस्त विरोधों का परिहार करके अविरोधवाद को जन्म देता है। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह के द्वारा अहिंसक समाज की स्थापना करने का जो प्रयास किया है वह युद्धवादी और हिंसा वादी विचारकों के विपरीत है तथा वह अद्वैत वेदान्त की तर्क प्रणाली पर आधारित है। सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए प्रो० पाण्डेय ने दिखलाया है कि इसके मूल में 'इति-इति' की प्रक्रिया है जो 'नेति-नेति' की प्रक्रिया का आधार है।[१८] इस प्रकार अद्वैतवाद अभेदवाद को ही द्वन्द्व न्याय का सार बताता है और निषेध को केवल अभेद मूलक तथा फलनात्मक उपाधि कहता है।

अंत में प्रो० पाण्डेय ने शंकर के द्वन्द्व न्याय की विशद व्याख्या अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'ह्विदर इण्डियन फिलासफी' में की है और दिखलाया है कि अपरोक्ष अनुभूति सभी विषयों के ज्ञान में निहित रहती है।[१६] यह अपरोक्ष अनुभूति स्वात्मानुभव है जो सिद्ध करता है कि उससे भिन्न या अन्य जो कुछ है, वह सत्य नहीं है। सत्य एक एवं अद्वितीय है और वह स्वात्मानुभव है। जो उससे अनन्य है वह अनुभव प्रमाणित है तथा जो उससे अन्य है वह अप्रमाणित है। इस प्रकार अनन्यता प्रतीति बोध का साधन एवं सत्य की कसौटी दोनों है, इसलिए उसे स्वप्रकाश कहा जाता है।

शंकरोत्तर अद्वैत-वेदान्त में द्वन्द्व न्याय

शंकर ने ब्रह्म भाष्य में, कुछ उपनिषदों और माण्डूक्यकारिका-भाष्य में द्वन्द्वन्यायात्मक आलोचना पद्धति अपनायी थी, किन्तु उनकी तर्क में अधिक निष्ठा नहीं थी। शंकर के पश्चात्

उनके कुछ शिष्यों तथा अन्य अद्वैतवादी दार्शनिकों में द्वन्द्वन्यायात्मक तर्कना-पद्धति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इनमें से प्रमुख अद्वैतवादी दार्शनिकों जैसे मण्डन मिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुख और मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रयुक्त तर्कना पद्धति का विवेचन किया जाएगा।

मण्डन मिश्र

मण्डन मिश्र ने अपने 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ में द्वन्द्वन्यायात्मक तर्क पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय का नाम ही 'तर्ककाण्ड' है। मण्डन मिश्र का मत है कि भेद न तो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, न अनुमान द्वारा और न आगम द्वारा। प्रत्यक्ष में तीन विकल्प सम्भव हैं[२०] (क) वस्तु स्वरूप विधिः (ख) वस्त्वन्तरव्यवच्छेदः (ग) उभयं वा। वस्तु स्वरूप विधि का अर्थ है- प्रत्यक्ष के द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्त्व ज्ञात होना, जैसे यह घट है। अन्य वस्तु से व्यवच्छेद का अर्थ है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भिन्न होना ज्ञात होता है, जैसे यह पट नहीं है। उभय का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का अस्तित्त्व और अन्य वस्तुओं से भिन्नता ये दोनों ज्ञान होते हैं।[२१] तृतीय विकल्प तीन प्रकार का हो सकता है - (क) युगपत् (ख) व्यवच्छेदपूर्वक विधि (ग) विधिपूर्वक व्यवच्छेद। प्रथम विकल्प में तो भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इसमें वस्तु का ग्रहण विधि रूप से होता है और भेद के लिए व्यवच्छेद आवश्यक है। द्वितीय विकल्प सत्य नहीं हो सकता क्योंकि कोरा व्यवच्छेद अर्थात विध्यनपेक्ष व्यवच्छेद असम्भव है और फिर प्रत्यक्ष में विधि ही होती है, निषेध नहीं होता।[२२] तृतीय विकल्प के तीनों प्रकार असत्य हैं क्योंकि विधि और व्यवच्छेद साथ-साथ नहीं हो सकते है, और न पहले विधि तथा पश्चात् व्यवच्छेद।[२३] अतः प्रत्यक्ष द्वारा भेद नहीं होता।

भेद द्विबिध वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध है, जैसे गाय और घोड़े में भेद अथवा किसी वस्तु के होने और न होने का भेद; जैसे घट नहीं है। दोनों ही प्रकार के भेद में प्रतिषेध विद्यमान है। 'यह गाय है, घोड़ा नहीं' अथवा 'यहाँ घट नहीं है'। घोड़ा नहीं है, घट नहीं है- इस प्रकार का प्रतिषेध कैसे सम्भव है? मण्डन मिश्र कहते हैं- 'न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना प्रतिषेधोऽवकल्पते'[२४] प्रतिषेध्य और प्रतिषेध विषय के बिना प्रतिषेध की कल्पना नहीं हो

सकती। उदाहरण में गाय और घोड़े दोनों हो, तब कहा जा सकता है क गाय है घोड़ा नहीं। घोड़ा जैसी कोई वस्तु न हो तो प्रतिषेध नहीं हो सकता है। "सिद्धरूपमेव निषिध्यते" - सिद्ध रूप वस्तु का ही निषेध होता है।

मण्डन मिश्र ने भेद प्रतिपादक अन्य मतों का भी खण्डन किया है। बौद्धमत के अनुसार 'एकविधिरेवान्य व्यवच्छेदः'- एक वस्तु का प्रत्यक्ष होने में दोनों कार्य होते हैं, वस्तु का बोध और अन्य से व्यवच्छेद। मण्डन मिश्र इस बात का खण्डन करते हैं कि एक प्रत्यक्ष में समस्त सम्भव-असम्भव वस्तुओं का भेद ज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक मत यह है कि 'प्रकृत्यैव भिन्नाभावाः'[२५] वस्तुयें स्वभाव से ही एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए उनके प्रत्यक्ष होने से उनके भेद का भी ज्ञान होता है। मण्डन मिश्र कहते हैं कि यदि ऐसा हो तो सब वस्तुयें भेद स्वरूप होंगी और एक वस्तु से दूसरी वस्तु में भेद नहीं होगा। दूसरे भेद "अरूप" है, इसलिए सब वस्तुयें भी अरूप होंगी। तीसरे भेद निषेधात्मक होता है, अतः वस्तुयें भी निषेधस्वरूप होंगी। चौथे, भेद में द्वैत, त्रैत अवश्य होना चाहिए, अतः कोई वस्तु एक नहीं हो सकती। कोई वस्तु एक और अनेक एक साथ नहीं होती है।[२६]

इस प्रकार मण्डन मिश्र 'तर्ककाण्ड' के सम्पूर्ण अध्याय में भेद सम्बन्धी विभिन्न मतों का खण्डन द्वन्द्व न्याय से किया है। अद्वैत वेदान्त की परम्परा में संभवतः यह प्रथम प्रयास है, जिसमें द्वन्द्व न्याय के द्वारा भेद का निराकरण इतनी गहनता, गम्भीरता, विस्तार और सफलता के साथ किया गया है।

श्रीहर्ष

'खण्डनखण्डखाद्य' श्रीहर्ष की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति की प्रवृत्ति ही खण्डनात्मक है। यद्यपि श्रीहर्ष का मुख्य पूर्वपक्षी न्याय दर्शन है, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्व न्याय का अस्त्र समस्त विरोधी मतों का खण्डन करने में सक्षम है। श्रीहर्ष स्वयं स्वीकार करते हैं कि "ये मेरी खण्डनात्मक युक्तियाँ सब दर्शन सिद्धान्तों में यथेष्ट प्रवृत्त होती है। ईश्वराधीन विश्व की व्यवस्था को न मानकर खण्डन करना अशक्य है। उन युक्तियों के प्रदर्शन के ही लिए

यह वादियों के वाद का कथन किया जाता है वह इस प्रकार है कि यदि शून्यवाद और अनिर्वचनीयवाद पक्षो का आश्रयण होता है तो इन खण्डन युक्तियों की सर्वपथगमिता निर्बाध रहती है।''[२७] श्रीहर्ष कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद सिद्ध नहीं होता है इसलिए भेद मिथ्या है। भेद मिथ्या होने के कारण वह अद्वैत श्रुति का बोध नहीं कर सकता। अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्ष के ही उपजीव्य हैं, अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल हैं और वे भी अद्वैत का बोध नहीं कर सकते।[२८] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्री हर्ष द्वैत किसी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। श्रीहर्ष कहते हैं, 'हम भेद का सर्वथा अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु हम उसके पारमार्थिक सत्य को स्वीकार नहीं करते हैं। अपारमार्थिक बुद्धि पारमार्थिक बुद्धि का बाध नहीं कर सकती है, जैसे शुक्ति-बुद्धि का रजत बुद्धि से बाध नहीं होता।[२९]

श्रीहर्ष ने अपनी तर्कना-पद्धति का प्रयोग लक्षण, प्रमाण, करण, व्यवहार आदि में सर्वत्र किया है। सामान्य रूप से लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था की जाती है और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर अन्य भेद निरूपित किये जाते हैं। पृथ्वीत्व पृथ्वी का लक्षण है। इसलिए जहाँ पृथ्वीत्व देखने में आये उसे पृथ्वी मानेंगे। जहाँ पृथ्वीत्व नहीं है वहाँ पृथ्वी भी नहीं है। जलत्व जल का लक्षण है और वह जल का ज्ञान कराता है। पृथ्वी में जलत्व न होने के कारण पृथ्वी जल से भिन्न है। इस प्रकार भेद ज्ञान होता है। श्रीहर्ष इसका खण्डन इस प्रकार करते हैं। लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य का ज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के पृंथक लक्षण हैं। इसीलिए उनका भेद ज्ञान होता है। किन्तु यह भी सत्य है कि लक्षणों का भेद भी लक्ष्यों की पृथकता से ही होता है। अतः लक्षण से लक्ष्य और लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान आत्माश्रय दोष है।[३०]

परमत में प्रमा की अनेक परिभाषायें हैं। तत्त्वानुभूतिः प्रमा, यथार्थानुभवः प्रमा, सम्यक् परिच्छित्ति, अव्यभिचारी अनुभव आदि कई परिभाषायें लेकर श्रीहर्ष ने उनका खण्डन किया है। ''प्रमाकरणं प्रमाणम्'' इस परिभाषा के अनुसार प्रमा का करण प्रमाण होता है। यदि प्रमा ही सिद्ध नहीं होती तो प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता।[३१]

इस प्रकार श्रीहर्ष ने न्याय-वैशेषिक के वस्तुवादी समस्त सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए निष्कर्ष यह निकाला कि समस्त विश्व अनिर्वचनीय है, इसलिए माया है। यही कारण है कि

उनका ग्रन्थ 'अनिर्वचनीयता सर्वस्व' भी कहलाता है। उनकी खण्डन शैली नागार्जुन की प्राचीन खण्डन पद्धति का स्मरण दिलाती है और दोनों में बहुत साम्य दिखाई देता है।

चित्सुख

चित्सुखाचार्य की "तत्त्वप्रदीपिका" अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में चित्सुख ने न्याय के पदार्थ, भेद, गुण, कर्म, जाति, विशेष, समवाय, प्रत्यक्ष, संशय, भ्रम, स्मृति, अनुमान, व्याप्ति, व्याप्ति ग्रह पक्षधर्मता, हेतु, उपमान, सत्-असत् द्वैत, परिमाण, कार्य कारण, देशकाल आदि समस्त भावों का खण्डन किया है। इसमें सर्वत्र द्वन्द्वन्याय का प्रयोग दिखाई देता है।[३२] चित्सुख ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही श्रीहर्ष की ही भाँति भेद का प्रश्न उठाते हुए, उसके चार विकल्प एवं युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ हम उनकी पुनरावृत्ति न कर केवल "कारणत्व" का खण्डन दिखायेंगे।

कारण के विषय में सात प्रकार की मान्यतायें हो सकती हैं -

१. पूर्वकाल-भावित्व

२. नियत्-प्राक्कालसत्त्व

३. सहकारि वैकल्पप्रयुक्त कार्याभाववत्त्व

४. अन्वय व्यतिरेक वज्जातीयत्वं

५. सामग्री का एक देशत्व

६. व्यापारवत्त्व, अथवा

७. जिसको न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो। विचार करने से इन सभी विकल्पों का खण्डन हो जाता है।

दूसरे पक्ष में, 'नियत् प्राक्कालसत्त्व' का अर्थ है- कार्य से पूर्वकाल में कारण का विद्यमान रहना। इस स्थिति में काल की अहेतुता की आपत्ति होगी, क्योंकि काल एक ही है। यदि उपाधि के कारण काल का भेद करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। काल स्वयं अपने में नहीं रह सकता। नियतत्त्व का भी निर्वाचन नहीं किया जा सकता है।[३३]

तीसरे पक्ष में, 'सहकारिवैकल्प प्रयुक्त कार्याभावात्व' का अर्थ है कि कारण वह है जो सहकारी तत्त्वों के बीच विद्यमान हो और जिसके होने से कार्य उत्पन्न हो। कारण का यह लक्षण भी ठीक नहीं है क्योंकि हेतु साकल्यरूप सामग्री में यह लक्षण नहीं घटता। इसके कारणत्व का निर्वचन न होने से सहकारी पदार्थ का निरूपण नहीं हो सकता।

चौथे पक्ष में, 'अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वम्' का अर्थ है, कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना। यह भी कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक न होने पर भी तृण, अरणि और मणि में अग्नि की हेतुता मानी जाती है।[३४]

पाँचवें पक्ष में, 'सामग्र्यैकदेशत्व' का अर्थ है सामग्री की एक देशता का होना ही कारण है। यह भी युक्तियुक्त नहीं है। वस्तु-साकल्य को सामग्री मानने में अतिव्याप्ति दोष और कारण साकल्य को सामग्री मानने में आत्माश्रय दोष उत्पन्न होते हैं।

छठे पक्ष में, 'व्यापारवत्त्व' का अर्थ है- जो कारण से जन्य हो एवं कारण से जन्य का जनक हो। चित्सुख व्यापार में अव्याप्ति दोष मानते हैं।

सातवें पक्ष में, कारण वह है जिसके न मानने से कार्य की नित्य-सत्ता या नित्य-असत्ता प्राप्त हो। यह भी युक्ति संगत नहीं है। कारणानभ्युपगम (कारण का न मानना) की और नित्य सत्व या नित्य असत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। कारणानभ्युपगम को भावरूप मानने से कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता।

चित्सुख द्वारा परमत का इस प्रकार खण्डन कर देने से समस्त भेद, अभेद या भेदाभेद निरस्त हो जाते हैं। उनके अनुसार यह सकल प्रपंच अनादि अविद्या का विलास मात्र है। इस प्रकार के प्रपंच के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहने से वेदान्तवाक्य अबाधित होकर अद्वितीय ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त है।[३५]

मधुसूदन सरस्वती

श्रीहर्ष और चित्सुख की तार्किक परम्परा में मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। मधुसूदन सरस्वती 'बोध' और 'वादि विजय' के लिए रचित[३६] अपने 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ में

भेद और द्वैत का सविस्तार एवं मार्मिक खण्डन करते हैं। 'न्यायामृत' के लेखक द्वैती व्यासतीर्थ उनके प्रधानमल्ल है। उदाहरण के रूप में हम 'प्रपंचमिथ्यात्ववाद' पर उनका तर्क वितर्क प्रस्तुत कर रहे हैं-

व्यासतीर्थ के समक्ष विचारार्थ मिथ्यात्व के पाँच लक्षण हैं, जिसे प्राचीन अद्वैत-वेदान्तियों से लिया गया है। पद्मपादाचार्य-सत्वासत्वानधिकरणत्व, प्रकाशात्ममुनि त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व और ज्ञान निवर्त्यत्व, चित्सुख स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और आनन्दबोध सद्विविक्तत्व ही प्रपंच के मिथ्यात्व का लक्षण मानते हैं। व्यासतीर्थ इन मतों का खण्डन करते हैं और मधुसूदन उनके खण्डन का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। मिथ्याकत्व की 'त्रैकालिनिषेध प्रतियोगित्व' परिभाषा में त्रैकालिक निषेध के तीन विकल्प हो सकते हैं- (१) ब्रह्म में प्रपंच का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्विक है, तब अद्वैत हानि होती है। (२) प्रपंच का वास्तविक अभाव न मानकर प्रातिभासिक अभाव मानने से सिद्धसाधन दोष होता है। (३) प्रपंच का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है। अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपंच में मान लेने से वास्तविक सत्ता का अपहार नहीं होता, इसलिए सिद्ध-साधनता और अर्थान्तरता दोष रहते हैं।

मधुसूदन इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि द्वैतवादी का यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि प्रपंच निषेध अधिकरणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्विक होने पर भी अद्वैत-घाती नहीं है। तात्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपंच में तात्विकत्त्व प्रसक्त न होकर कल्पित ही होता है, जैसे रजतादि में।[३७] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त पर किये गये आक्षेपों का खण्डन कर अपने मत की रक्षा में अपनी तर्कना शक्ति का प्रयोग किया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शंकर के उपरान्त अद्वैत वेदान्तियों की एक धारा उपनिषद और शंकर के मत के प्रतिपादन और व्याख्या में लग गयी। इस धारा में पद्मपाद, सुरेश्वर, प्रकाशात्ममुनि, वाचस्पति मिश्र की गणना होती है। इनमें तर्क खण्डनात्मक की अपेक्षा मण्डनात्मक और विश्लेषणात्मक अधिक है। दूसरी धारा मण्डन से प्रारम्भ होकर श्रीहर्ष, चित्सुख मधुसूदन आदि की रचनाओं में प्रवाहित हुई। इसमें तर्क के प्रति आस्था परिलक्षित होती है। यहाँ

तर्क द्वन्द्वन्याय का रूप धारण कर अद्वैत वेदान्त के सैनिकों का घातक अस्त्र बन गया। इसका प्रमुख कार्य न्याय आदि दर्शनों के साम्राज्य पर आक्रमण कर विश्व विजय प्राप्त करना हो गया। श्री हर्ष ने अपने ग्रन्थ का नाम 'खण्डनखण्डखाद्य' रखकर खण्डन को मिश्री जैसा मधुर बताया और उसका एक प्रयोजन दिग्विजय भी माना-

"शब्दार्थ निर्वचनखण्डनया नयन्तः,

सर्वत्र निर्ववचनभावमरवर्वगर्वान।

धीराः यथोक्तमपि कीरवदेत दुक्तवा,

लोकेषु दिग्विजय कौतुकमातनुध्वम्।।"[३८]

अर्थात्, हे धीर! शब्द और अर्थ के सत्य रूप से निर्वचनों (कथन) के खण्डन द्वारा अखण्ड गर्व वालों को सब वादों में निर्वचन भाव (मूकता) को प्राप्त कराते हुए इस खण्डन को जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार कीरवत् कहकर उहापोह के बिना भी लोक में दिग्विजय रूप कौतुक फैलाओ।

दिग्विजय की लालसा बिना द्वन्द्वन्याय का अस्त्र उठाये पूरी नहीं हो सकती थी। अतः इन दार्शनिकों ने अपने अस्त्र को खूब पैना किया और प्रतिद्वन्द्वी को चारों ओर से घेर कर निग्रह स्थान में डालने का अच्छा अभ्यास कर लिया। शंकर और श्रीहर्ष आदि के द्वन्द्वन्याय में यह अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्रीहर्ष के बाद का अद्वैत वेदान्त नव्यवेदान्त कहलाया और वह प्रमाण प्रधान हो गया। जबकि इसके विपरीत प्राचीन वेदान्त प्रमेय-प्रधान था। नव्य वेदान्ती अपनी एक विशेष तर्कना पद्धति रखते हैं। ये विपक्षी के दर्शनों से विशेष रूप से न्याय दर्शन से एक एक शब्द लेकर उसके विभिन्न संभावित अर्थों की कल्पना करते हैं और उन सबमें कोई न कोई तर्कीय दोष दिखलाते हैं। यही विधि वे विपक्षियों के मत में प्रयुक्त लक्षण, परिभाषा आदि के खण्डन में भी अपनाते हैं।

तर्क की अप्रतिष्ठितत्त्व तर्कदोष से प्रतिरक्षा

बुद्धि के व्यापार को प्रायः तर्क कहा जाता है। यदि तर्क का अर्थ व्यवहित ज्ञान है तो यह बौद्धिक ज्ञान का पर्याय है। किन्तु यदि तर्क का तात्पर्य पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से है तो यह एक उत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान है। यद्यपि इस रूप में तर्क बुद्धि में सर्वदा निहित रहता है तथापि इसका विकास कुछ निमित्त पाकर होता है। जब यह विकसित हो जाता है तब यह बुद्धि का लक्षण बन जाता है और बुद्धि इसका परिहार करने में असमर्थ हो जाती है। तर्क का परिहार बुद्धि का सत्यानाश होगा। इसी कारण तर्क से दूषित या असंगत कथनों को अबौद्धिक उपलाप या बकवास कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त में 'तर्क' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। वेदान्ती कहीं तो तर्क को अप्रतिषिद्ध, अप्रतिष्ठित और निरंकुश कहकर उसकी निन्दा करते हैं तथा अन्य स्थलों पर तर्क की स्तुति भी करते पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में तर्क का वास्तविक अर्थ जान लेना अत्यावश्यक हो जाता है। पंचपादिका स्वीकार करती है कि तर्क प्रमाणों से भिन्न है तथा प्रमाणों का सहायक है। इसका कार्य केवल अप्रत्यक्ष वस्तु की संभाव्यता को प्रदर्शित करना है। विवरण भी मानता है कि तर्क द्वारा हम किसी वस्तु की सम्भाव्यता या असम्भाव्यता के विषय में ही अनुमान कर सकते हैं, उसकी निश्चयात्मकता का निदर्शन नहीं – 'प्रमाणादितत्त्वेसम्भवासम्भव प्रत्ययस्तर्को न निश्चयरूपः'।

शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में तर्क को दो भागों में विभाजित किया है– प्रथम, कुतर्क और द्वितीय सुतर्क। कुतर्क की तो निन्दा की गयी है, पर सुतर्क की प्रशंसा की गयी है। जिस कुतर्क की शंकराचार्य ने निन्दा की है, वह प्रागनुभविक तर्क (Apriori Reasoning) है, जो किसी प्रकार के अनुभव पर आधारित नहीं होता। इसी प्रकार जिस सुतर्क की उन्होंने प्रशंसा की है वह पश्चादनुभविक तर्क (Aposteriori Reasoning) है।

पाश्चात्य दर्शन में जिस प्रकार का तर्क डेकार्ट्स, स्पिनोजा और लाइबनित्स ने प्रयुक्त किया था तथा जिससे निरर्थक एवं परस्पर विरोधी निष्कर्षों की स्थापना हुई थी, ऐसे ही तर्क को शंकराचार्य ने कुतर्क नाम दिया तथा उसकी भरपूर निन्दा की। वे कहते हैं कि 'एक व्यक्ति की युक्ति दूसरे व्यक्ति की उच्चतर युक्ति द्वारा खण्डित की जा सकती है, अतः तर्क अप्रतिष्ठित है।[३९] इसी प्रकार दूसरे स्थल पर वे कहते हैं कि मतिवैरूप्य और मतिविरोध के कारण तर्क अनवस्थित होता है तथा भ्रान्ति को उत्पन्न करता है।[४०] तर्क जो श्रुति पर आश्रित नहीं है, वह निरपेक्ष तत्त्व की प्राप्ति नहीं करा सकता, वह केवल भ्रान्ति उत्पन्न करता है।[४१] पुनश्च तर्क जो विशुद्ध कल्पना के ऊपर आधारित होता है, वह अप्रतिषिद्ध होता है क्योंकि कल्पना आधारहीन और निरंकुश होती है।[४२] केवल तर्क कौशल प्रदर्शित करने वाले तार्किक बिना पूँछ और सींग के बैल के समान है।[४३] शंकराचार्य ने जो कुतर्क का खण्डन किया है, वह हमारे व्यावहारिक जीवन के साधारण अनुभवों पर आश्रित है। शंकराचार्य कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान में मत वैभिन्य के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह सर्वविदित है कि तर्क के ऊपर आधारित विभिन्न ज्ञान एक दूसरे को बाधित करते हैं। जिस ज्ञान को एक तार्किक सम्यक् ज्ञान के रूप में स्थापित करता है वही ज्ञान दूसरे तार्किक द्वारा खण्डित कर दिया जाता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार अद्वैत साहित्य में तर्क को यदा कदा अप्रतिष्ठित और व्यर्थ बताया जाता है।[४४] इसी आधार पर आलोचकों ने कहा है कि अद्वैत की प्रणाली युक्तिहीन और रहस्यवादी है। पर इन आलोचकों ने अद्वैत का केवल ऊपरी बाह्य ज्ञान प्राप्त किया है। शंकराचार्य का कहना है कि तर्क अप्रतिष्ठित है। इस वाक्य में तर्क के विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है। सब तर्कों की अप्रतिष्ठा से तो लोकव्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा– 'सर्वतर्का प्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेद प्रसंगः'।[४५] पुनश्च एक तर्क का निराकरण दूसरे तर्क से ही हो सकता है। इस कारण दूसरा तर्क पहले निराकृत तर्क की अपेक्षा मान्य रहेगा। भूत और वर्तमान के अनुभव के आधार पर लोग भविष्य के विषय में भी तर्कण करते हैं। यह तर्कणा यदि निश्चित नहीं तो संभाव्य अवश्य है। यदि यह कहा जाय कि अद्वैत तर्क से श्रुति को अधिक महत्व देता है तो फिर शंकराचार्य का कहना है कि तर्क श्रुति का भी ज्ञापक होने के कारण बलवत्तर है। यदि श्रुति के विभिन्न वाक्यों

में परस्पर विरोध पाया जाय तो इन वाक्यों की श्रुति के केन्द्रीय विचार के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करनी चाहिए जिसकी तर्क द्वारा पुष्टि हो सके। यदि किसी अवस्था में श्रुति का तर्क के साथ विरोध हो तो हमें तर्क को ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि तर्क श्रुति की अपेक्षा अनुभव के अधिक निकट है।[४७] यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल और अप्रकाश बतायें तो भी अनुभव विरुद्ध होने के कारण उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[४७] पुनश्च श्रुत्यर्थ का निरूपण भी तर्क द्वारा ही होता है। अस्तु यद्यपि तर्क श्रुति का अनुगृहीत है तो भी श्रुति से बलवान स्वतंत्र प्रमाण है। किसी-किसी विषय में तो तर्क मात्र ही प्रमाण होता है। श्रुति, प्रत्यक्ष आदि का वहाँ अवकाश भी नहीं रहता- 'क्वचिद् विषयेषु तर्कस्य प्रतिष्ठित्तवम् उपलक्ष्यते'। व्यावहारिक जगत में बुद्धि या सुतर्क की महत्ता स्वीकार्य है। व्यवहार में सुतर्क प्रतिष्ठित और प्रमाणिक है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि तर्कमात्र अप्रतिष्ठित है क्योंकि तर्क का अप्रतिष्ठितत्त्व भी तर्क द्वारा ही प्रतिष्ठित किया जाता है।[४८] जो लोग तर्क को अव्यवस्थित तथा अप्रतिष्ठित कहते हैं, वे वस्तुतः तर्क को स्वालोचक बनाते हैं। अस्तु यदि तर्क अप्रतिष्ठित है तो यह उसका भूषण है, दूषण नहीं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि तर्क या बुद्धि का साम्राज्य व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ में उसकी गति नहीं है। सभी तर्क को अप्रतिष्ठित मान लेने से हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन असम्भव हो जाएगा। फलस्वरूप सर्वलोक व्यवहारोच्छेद प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा। यही नहीं तर्क की अप्रमाणिकता भी तर्क द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है और ऐसा करना वदतोव्याघात है। अतः हम 'तर्क अप्रतिष्ठित है' ऐसा नहीं कह सकते। वास्तव में तर्क को पारमार्थिक प्रतिष्ठा पाने के लिए अपनी सापेक्षता और सविकल्पकता के बंधन से मुक्त होकर निरपेक्ष और निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञान में लीन होना पड़ेगा। इस विशुद्ध ज्ञान का नाम ही स्वानुभूति या अपरोक्षानुभुति है। तर्क जीवरूप है जो अविद्याजन्य है। अविद्या का विद्या द्वारा प्रविलय होते ही तर्क विशुद्ध विज्ञान स्वरूप हो जाता है। यही प्रपंचोपशम, शिव और अद्वैत है। अद्वैत व्यावहारिक त्रिपुटी के ऊपर है। यहाँ तर्क का नाश नहीं होता अपितु उसका चरम विकास होता है। तर्क अपने विकल्प बन्धन से मुक्त होता है तथा ज्ञान के पद पर प्रतिष्ठित होता है। तर्क या विशुद्ध विज्ञान या स्वानुभव होना ही उसकी सार्थकता है, यही अद्वैत का लक्ष्य है।

शंकराचार्य के प्रसंगानुमान

शंकराचार्य ने अपने मत को प्रस्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार की युक्तियों का प्रयोग किया है जिनमें मुख्य युक्तियाँ हैं- 'अन्वयव्यतिरेकी अनुमान', 'परिशेषानुमान', 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान', 'उभयतः पाश', 'हेतुहेतुमद् अनुमान', 'साम्यानुमान', 'लौकिक न्याय (जैसे स्थूणानिखन न्याय', 'अर्धजरती न्याय' आदि) तर्क और प्रसंग। भारतीय न्यायशास्त्र में तर्क के पाँच प्रकार- आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, अनवस्था, विरोध या प्रमाण बाधित और चक्रक, प्रचलित हैं।[४६] इनमें से चक्रक के अतिरिक्त अन्य तर्कों का प्रयोग शंकराचार्य ने अत्यधिक किया है। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, अनवस्था और विरोध के तर्कों को, प्रसंगानुमान कहा जाता है क्योंकि ये सभी अनिष्ट प्रसंग के निवारण के द्वारा अपने साध्य को सिद्ध करते हैं। शंकराचार्य ने इन अनिष्ट प्रसंगों में से अनवस्था-प्रसंग तथा बाध-प्रसंगों का अत्यधिक प्रयोग किया है फिर भी उन्होंने कुछ नूतन तर्कों या दार्शनिक दोषों की खोज की है तथा उनके आधार पर चिंतन भी किया है। इस प्रकार यह सब तर्कशास्त्र में उनके महत्वपूर्ण योगदान को रेखांकित करती है।

प्रसंगानुमान परोक्ष तर्क पद्धति है जिसका मूलाधार विरोध का नियम है। प्रतिवादी के कथन को खण्डित करके अपने पक्ष का परोक्ष रूप से समर्थन करने के लिए वादी द्वारा प्रयुक्त काल्पनिक युक्ति को तर्क कहते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इसे 'इन्डाइरेक्ट प्रूफ' या 'हाईपोथेटिकल आर्ग्यूमेन्ट' के नाम से पुकारा जाता है।[५०] प्रसंगानुमान का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है- (१) किसी मत को सावद्य या दोषपूर्ण दिखलाने के लिए और (२) किसी मत को सिद्ध करने के लिए। शंकराचार्य ने परमत खण्डन में प्रसंगानुमान के प्रथम मत का प्रयोग किया है और अपने मत की स्थापना में इसके दूसरे मत का उपयोग किया है। प्रसंगानुमान के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं- मान लीजिए हमें सिद्ध करना है कि 'भरत राम का भाई है।'

यहाँ प्रसंगानुमान द्वारा इस प्रकार सिद्ध करते है, यदि भरत राम का भाई नहीं है तो दोनों के दो पिता होंगे जो ऐतिहासिक साक्ष्य के विरुद्ध है क्योंकि दोनों का पिता एक ही है। अतः इस विरोध को दूर करने के लिए उसके विरोधी वाक्य को अर्थात 'भरत राम का भाई' इस वाक्य को सत्य मानना पड़ता है। इसी प्रकार मान लीजिए हमें सिद्ध करना है कि 'सभी उत्पत्ति भाव से होती है।' प्रसंगानुमान द्वारा इसे इस प्रकार सिद्ध करेंगे, यदि भाव से उत्पत्ति न मानी जाय तो अभाव से उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना पड़ेगा फिर ऐसा मानने पर पुनः मानना पड़ेगा कि सभी कार्य अभावान्वित है क्योंकि सभी कार्य अपने कारण से अन्वत रहते हैं, किन्तु ऐसा मानने से दृष्ट-विपर्यय है क्योंकि कोई कार्य अभावान्वित नहीं देखा जाता। अतएव अभाव से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। विपरीततः भाव से उत्पत्ति होती है, यह सिद्ध हो जाता है।

स्पष्ट है कि प्रसंगानुमान द्वारा किसी निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करने के लिए उसके विरोधी वाक्य की असत्यता को सिद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया में विरोध कई प्रकार का हो सकता है। शंकराचार्य ने 'लोक-अनुभव-विरोध' अर्थात प्रत्यक्ष विरोध (दृष्ट विपर्यय), 'श्रुति विरोध' या श्रुति व्याकोप', 'श्रुत्यर्थ विरोध', 'सर्ववेदान्त व्याकोप', 'शब्द कोप', 'स्मृत्यनवकाश' आदि विरोधों को प्रदर्शित किया है[51] किन्तु इन विरोधों से भी अधिक महत्वपूर्ण स्वसिद्धान्त-विरोध या स्वसिद्धान्त-हानि है। स्वसिद्धान्त विरोध के द्वारा शंकराचार्य ने सिद्ध किया है कि प्रत्येक द्वैतवाद की तार्किक परिणति उसके विरोधी सिद्धान्त में हो जाती है। अतएव प्रत्येक द्वैतवाद दोषपूर्ण और त्याज्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक द्वैतवाद में असामंजस्य या अन्तर्विरोध है।[52] इस अन्तर्विरोध को दूर करने के लिए अद्वैतवाद मानना पड़ेगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि मात्र अन्तर्विरोध दिखाना शंकराचार्य का इष्ट नहीं है अपितु वे अन्तर्विरोध को अनिष्ट प्रसंग मानते हुए, इसको दूर करने के लिए अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। दूसरे शब्दों में शंकराचार्य खण्डन खण्डन के लिए नहीं करते हैं, अपितु ज्ञानार्जन के लिए खण्डन करते हैं।

प्रो० पाण्डेय ने शंकराचार्य द्वारा परमत खण्डन में प्रसंगानुमान के प्रयोग को 'तर्क का एक रचनात्मक प्रयोग' कहा है।[53] शंकराचार्य ने परमत खण्डन में सांख्यमत का खण्डन सबसे पहले और सर्वाधिक किया है। उन्होंने सांख्य को 'प्रधानमल्ल' माना है क्योंकि वह ब्रह्म कारणवाद

का कड़ा विरोध करता है। किन्तु वे सांख्य के सत्कार्यवाद को मानते हैं और कहते हैं कि वास्तव में सांख्य ने सत्कार्यवाद का पूर्ण पालन नहीं किया है और इसी कारण उसमें असत्कार्यवाद का प्रसंग है क्योंकि वह जगत की उत्पत्ति के पूर्व उसके अस्तित्त्व को नहीं मानता है। शंकर के अनुसार जैसे कोई कार्य इस समय कारणात्मना सत् है, किन्तु सांख्य इस रूप में सत्कार्यवाद को नहीं मानता है और कहता है कि जगत् की उत्पत्ति विलक्षण है या पूर्वनियत् नहीं है। पुनश्च, यदि सांख्य प्रकृति की प्रवृत्ति की व्याख्या के लिए प्रकृति को चेतन मानता है तो उसमें ब्रह्मवाद प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। और सांख्यमत का द्वैतवाद निरस्त हो जाएगा।[५४] इस प्रकार प्रसंगानुमान द्वारा सांख्य को शंकराचार्य ने असामंजस्यपूर्ण बतलाया है। इसी प्रकार वैशेषिक के खण्डन में उन्होंने 'सांख्य सिद्धान्त प्रसंग', जैनमत के खण्डन में 'नैरात्म्य प्रसंग' और पाशुपत मत के खण्डन में 'शून्यवाद प्रसंग' दिखलाया है। इन खण्डनों में जो प्रसंग दिखलाये गये हैं वे उन दर्शनों के विपरीत मत को प्रदर्शित करते हैं। क्षणभंगवाद के खण्डन में शंकराचार्य ने दिखाया है कि उसका तार्किक निष्कर्ष शाश्वतवाद हो जाता है।[५५] अर्थात उसमें शाश्वततत्त्व-प्रसंग आ जाता है। वास्तव में ऐसे प्रसंगानुमानों में प्रसंग द्वारा किसी सिद्धान्त को उसके विरोधी मत से तर्कतः सम्बद्ध दिखलाया जाता है। अतः ऐसे सभी बाध प्रसंग या व्याघात प्रसंग के अन्तर्गत आते हैं।

किन्तु अनुभव का क्षेत्र विशाल है। इसमें केवल स्वसिद्धान्त विरोध की ही संभावना नहीं है, अपितु अन्यान्य विरोधों की भी संभावनाएँ परिलक्षित होती हैं। इन संभावनाओं का निराकरण करने पर ही अनुभव की सार्थकता और तर्कसंगति दिखलायी जा सकती है। इस संदर्भ में शंकराचार्य ने जिन प्रसंगों का प्रयोग किया है, उनमें से हम निम्नलिखित दस प्रसंगों का उल्लेख करते हुए उनके माध्यम से उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे -

(१) जगदान्ध्य प्रसंग

दर्शन-जगत् के अनुभव और लोकव्यवहार की व्याख्या करता है। वह मानता है कि जगत का अनुभव होता है। अर्थात् जगत् प्रकाश्य है और उसका प्रकाशक स्वप्रकाश आत्मा है। यदि आत्मा को चेतन और स्वप्रकाश न माना जाए तो 'जगदान्ध्य प्रसंग' उपस्थित होगा अर्थात जगत्

अन्धकारमय हो जायेगा, वह प्रकाशित नहीं होगा इस दोष को दूर करने के लिए मानना पड़ता है कि जगत का कोई प्रकाशक है जो जगत से भिन्न है और चेतन तथा स्वप्रकाश है, वह आत्मा है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा को अवश्य ही अपरोक्ष अनभव मानना पड़ता है अन्यथा जगदान्ध्य प्रसंग उपस्थित होगा।[५६]

(२) कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम प्रसंग

यदि जीव का कर्तृत्व ईश्वरसापेक्ष हो या ईश्वर जीव के पूर्वकर्मों के बिना जीव का प्रवर्तक हो तो अकृताभ्यागम प्रसंग होगा। अर्थात जीव ने जो नहीं किया है उसका फल उसको मिलेगा और उसने जो किया है उसका फल नहीं मिलेगा अर्थात उसके कृत कर्म का प्रणाश हो जायेगा।[५७] अतः जीव का प्रवर्तक ईश्वर नहीं, वरन् उसका कर्म है। इसी प्रकार यदि संसार आदि है तो अकृताभ्यागम प्रसंग उपस्थित होगा क्योंकि जीवों को उन कर्मों का फल मिलेगा जिसे उन्होंने किया नहीं है। अंतः संसार अनादि है।[५८]

(३) अनाश्वास प्रसंग

अनाश्वास प्रसंग की उपस्थिति तब होती है जब सभी शब्द प्रयोगों में अविश्वास पैदा हो जाता है। अनाश्वास प्रसंग दोष से बचने के लिए कम से कम एक शब्द प्रयोग में किसी शब्द का वस्तु वाचक अर्थ करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, यदि सभी श्रुति वाक्यों को अर्थवाद माना जाय और किसी भी श्रुतिवाक्य का अर्थ वस्तुवादी रूप में न किया जाय तो अनाश्वास प्रसंग उपस्थित होगा। इससे बचने के लिए कम से कम एक श्रुतिवाक्य का अर्थ वस्तुवादी करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि आत्मा शब्द का प्रयोग सर्वत्र गौण अर्थ में ही किया जाय जैसे पुत्र आत्मा है, भद्रसेन मेरी आत्मा है आदि वाक्यों में देखा जाता है। पुनश्च यदि और कहीं भी आत्मा का अर्थ उसके वास्तविक प्रसंग में या सत्ता के अर्थ में न किया जाय तो अनाश्वास प्रसंग उपस्थित होता है। इसी लिए शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा शब्द का उपनिषदों में सर्वत्र गौण अर्थ करना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है।[५९] इसी प्रकार 'सत्' शब्द के अर्थ में भी अनाश्वास प्रसंग से बचना चाहिए और उसका सर्वत्र गौण या लाक्षणिक अर्थ नहीं करना चाहिए।

(४) अनिर्मोक्ष प्रसंग

शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में कई स्थलों पर अनिर्मोक्ष प्रसंगानुमान का प्रयोग किया है। इसे 'अविमोक्षप्रसंग' के नाम से भी जाना जाता है। सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है, ऐसा सभी मोक्षवाद मानते हैं। इसे न मानने पर और मोक्ष को मानने पर अनिर्मोक्ष प्रसंग उपस्थित होगा। किन्तु सम्यक् ज्ञान तर्कजन्य नहीं हो सकता है क्योंकि जो तर्कजन्य है वह किसी अन्य तर्क से अयथार्थ भी सिद्ध हो सकता है। इस कारण तर्क से सम्यक् ज्ञान मानने में अनिर्मोक्ष प्रसंग उपस्थित होता है। इसी प्रकार यदि पुरुष को भोक्ता माना जाय तो भी अनिर्मोक्ष प्रसंग उपस्थित होता है क्योंकि भोग से कभी पूर्ण तृप्ति नहीं होती है और भोगवासना सदैव बनी रहती है।[६०] इसीलिए श्रुति कहती है कि त्याग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म से अथवा भक्ति से मोक्ष होता है, ऐसा मानने पर भी अनिर्मोक्ष प्रसंग होता है क्योंकि कर्म या भक्ति से जो प्राप्त होता है वह क्षीण हो जाता है। इसलिए उसमें अनित्यत्व प्रसंग आ जाता है और फलस्वरूप अनिर्मोक्ष प्रसंग उपस्थित हो जाता है क्योंकि मोक्ष नित्यत्व है।[६१] इसी प्रकार यदि संसार का उच्छेद माना जाय तो भी अनिर्मोक्ष प्रसंग उपस्थित होता है। अतः ऐसा मानना पड़ता है कि संसार शाश्वत है।

(५) सर्वलोक व्यवहारोच्छेद प्रसंग

शंकराचार्य कहते हैं कि यदि सभी प्रकार के तर्कों को अप्रतिष्ठित माना जाय तो सर्वलोक व्यवहारोच्छेद प्रसंग होगा।[६२] इसी प्रकार यदि सामान्यतोदृष्ट अनुमान को अप्रमाणित माना जाय तो भी लोग व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा।[६३] लोकव्यवहार की संभावना को सुरक्षित रखने के लिए ही अनादि अध्यास का अभ्युपगम किया जाता है। जब तक मोक्ष नहीं होता है तब तक लोकव्यवहार चलता रहता है। मोक्ष हो जाने पर जीव ब्रह्म से अनन्य हो जाता है। इसलिए उस अवस्था में प्रश्न उठता है कि क्या उसमें सर्वव्यवहारलोप प्रसंग हो जाता हैं ? इसका उत्तर है कि सर्वव्यवहार का बीज उस अवस्था में भी ब्रह्म की शक्ति के रूप में सुरक्षित रहता है। लय या प्रलयावस्था में जगत का बीज ब्रह्म की शक्ति के रूप में यदि सुरक्षित न रहे तो आकस्मिकत्व प्रसंग होगा। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और अस्तित्व प्रतिनियत न रहेंगे तथा आकस्मिक हो

जायेंगे। इसलिए जगत के मूल को शंकराचार्य ने नष्ट होने से बचाया है। अद्वैत वेदान्त में जीव ईश्वर, जीव और ईश्वर का भेद, चित्त, अविद्या और चित्त तथा अविद्या का सम्बन्ध ये छह पदार्थ अनादि माने जाते हैं; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे नित्य है। अनादि पदार्थ का मात्र इतना अर्थ है कि वे सभी उत्पन्न नहीं होते हैं और उनकी उत्पत्ति दिखाने में अनवस्था दोष उपस्थित हो जाता है। वास्तव में चित् ही एकमात्र सत् है और अन्य पाँच अनादि पदार्थ उसकी शक्ति के रूप में रहते हैं इस शक्ति का अविर्भाव और विलय होता रहता है जिन्हें सृष्टि और प्रलय कहा जाता है।

(६) मुक्तों का पुनर्बन्ध प्रसंग

सभी मोक्षवादियों की मान्यता है कि मुक्तों का पुनर्बन्ध नहीं होता है अर्थात मुक्त पुरुष जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होते हैं। परन्तु यदि मोक्ष को स्वाभाविक या कर्म जन्म मानते हैं, तब मुक्तों का पुनर्बन्ध प्रसंग उपस्थित होता है क्योंकि जैसे वे स्वभावतः या कर्म से मुक्त हुए हैं, वैसे ही वे पुनः स्वभावतः या कर्म विपाक से पुनः जन्म ग्रहण करेंगे। अतएव कर्म से या स्वभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा नहीं माना जा सकता है।

(७) सर्वार्थसिद्धि प्रसंग

अविद्यमान अर्थ की कल्पना किये जाने पर सर्वार्थसिद्धि प्रसंग उपस्थिति होता है। अणुओं में भी प्रदेश की कल्पना करना सर्वार्थ सिद्ध प्रसंग है।[६४] इस प्रसंग से बचने के लिए अणुओं को निरवयव मानना न्यायसंगत होगा और यदि निरवयव मानने पर अणुवाद में दोष उपस्थित होता है तो फिर अणुवाद का ही परित्याग करना न्यायसंगत होगा।

सामान्य जीवन में भी सर्वार्थसिद्धि प्रसंग का उदाहरण मिलता है। प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरथ करता है और यदि वे सिद्ध नहीं होते तो वह कुंठित होता है। यदि उसे ज्ञात हो कि उसकी सभी कल्पनायें या इच्छाएँ कदापि सिद्ध नहीं हो सकती हैं तो उसका कुंठित होना बन्द हो जाय। अतएव उसे सर्वार्थ सिद्धि प्रसंग से सदैव बचना चाहिए।

(८) प्रकृतहान और अप्रकृतप्रक्रिया प्रसंग

प्रकृतहान और अप्रकृतप्रक्रिया का तात्पर्य है प्रकृत का परित्याग और अप्रकृत का ग्रहण दोनों न्यायसंगत नहीं है। उदाहरण के लिए- 'ब्रह्म पुच्छम् प्रतिष्ठा' श्रुति वाक्य को लेते है। कुछ लोग इस श्रुतिवाक्य का अर्थ करते हैं कि ब्रह्म आनन्दमय की पुच्छ है। किन्तु ऐसा समझने में प्रकृतहान और अप्रकृत ग्रहण है, क्योंकि ब्रह्म प्रकृत है और ब्रह्म किसी का अवयव नहीं है।

प्रकृतहान वास्तव में संदर्भ या प्रकरण की हानि है और अप्रकृत ग्रहण अप्रकरण या अप्रस्तुत का वर्णन है। अतएव इन दोनों का प्रयोग उन सभी स्थानों में संभव है, जहाँ शब्द व्यवहार चलता है। इस प्रकार इन प्रसंगों की उपयोगिता शब्दार्थ मीमांसा में अधिक है।

(६) तत्वाव्यवस्थान प्रसंग

यदि श्रुति को छोड़कर किसी पुरुष के कथनानुसार तत्व की व्यवस्था की जाय तो तत्वाव्यवस्थान प्रसंग उपस्थित होता है। कोई भी पुरुष कितना ही ज्ञानी या सिद्ध क्यों न हो, उसकी बुद्धि अन्ततः पक्षपातिनी होती है क्योंकि वह स्वभावतः परतन्त्र है। फलस्वरूप उसकी मति किसी स्मृति या परम्परा विशेष में दृढ़ रहती है। फिर ऐसे एक नहीं, अनेक ज्ञानी या सिद्ध है। उनमें से किस का मत माना जाय? ऐसा निर्णय करने में कोई नियम या उपनियम नहीं है। अतः उनके आधार पर तत्व की व्याख्या या व्यवस्था करना उचित नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इसी आधार पर कपिल के सांख्य दर्शन और बुद्ध के दर्शन को दोषपूर्ण मानते हुए कहा है-

'सुगतो यदि सर्वज्ञः, कपिलोनास्ति का प्रमा।
उभावपि चेत सर्वज्ञो, तयोर्भेदस त्तः कथम्।।

अर्थात यदि सुगत सर्वज्ञ है, तो कपिल सर्वज्ञ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों दार्शनिक सर्वज्ञ हैं तो फिर दोनों के दर्शनों में भेद क्यों है ? अतः न्याय संगत मत यही है कि न तो ये दोनों सर्वज्ञ है और न कोई अन्य दार्शनिक सर्वज्ञ हो सकता है। श्रुति के अनुसार

तत्वनिर्णय करने में यह दोष नहीं होता है। अतएव तत्वाव्यवस्थान प्रसंग के निवारण हेतु श्रुति-निर्णय को मानना न्याय संगत है।[६५] इससे वेदान्त सत्यापित हो जाता है।

(१०) मूलोच्छेद प्रसंग

यदि किसी सिद्धान्त के द्वारा कोई समाधान प्रस्तुत किया जाय और उस समाधान से उस सिद्धान्त का मूल स्वरूप विनष्ट हो जाय तो मूलोच्छेद प्रसंग उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का प्रकरण ले सकते हैं। प्रश्न है कि जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप से होती है या एक देश से होती है? यदि प्रथम विकल्प को माना जाय तो ब्रह्म में जगत् के सभी विकारों का आरोप हो जायेगा और यदि दूसरे विकल्प को माना जाय तो ब्रह्म में अवयव की कल्पना करना होगा फलतः उसका निरवयवत्व नष्ट हो जायेगा। ऐसा होने पर मूलोच्छेद प्रसंग उपस्थित होता है क्योंकि ब्रह्मवादी ब्रह्म को निरवयव मानते हैं। इस विषम परिस्थिति का निराकरण करने के लिए शंकराचार्य ने प्रथम विकल्प को स्वीकार किया है और दूसरे विकल्प का निराकरण किया है। इससे पुनः समस्या उत्पन्न होती है कि क्या ब्रह्म में जगत के सभी विकारों का आरोप करना उचित है? इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि वास्तव में जगत के सभी विकार अथवा जगत स्वयं केवल नामरूपात्मक है और नामरूपात्मक होने के कारण वह कल्पित है। अतएव कल्पित विकारों के आरोप से ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्यथाभाव नहीं होता है।[६६]

इसी प्रकार शंकराचार्य ने क्षणभंगवाद की आलोचना में जो शाश्वतत्व प्रसंग दिखलाया है, वह भी मूलोच्छेद प्रसंग का ही एक प्रकार है क्योंकि क्षण को किसी प्रकार शाश्वत कहना क्षणत्व प्रतिज्ञा की हानि है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य ने अनेकानेक प्रसंगानुमानों को परमत खण्डन और स्वमत की प्रतिष्ठा में प्रयुक्त किया है। उनके द्वारा नूतन तर्कों या तार्किक दोषों की खोज तथा उनके आधार पर चिंतन किया जाना, तर्कशास्त्र में उनके महत्वपूर्ण योगदान को निरूपित करता है। शंकराचार्य ने अपने चिंतन में प्रसंगानुमान का बहुत ही सार्थक उपयोग किया है। स्वाभाविक रूप से इसी कारण भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने श्रीशंकर भगवत्पाद को 'विशुद्ध

विज्ञान' (Pure Reason, Pure Science, Pure Whisom) कहा है और पद्मपाद ने कहा है कि उनक आधा शरीर ही अनुमान का था। इस प्रसंग में प्रो० संगम लाल पाण्डेय कहते हैं कि शंकराचार्य के शरीर का आधा भाग भले ही अनुमान न हो किन्तु उनके शारीरक भाष्य का आधा भाग अवश्य अनुमान है और उसमे भी वह विशेषतः प्रसंगानुमान है।[६७]

सन्दर्भ

१. नासदीय सूक्त, १

२. वही, २

३. माण्डूक्यकारिका, ७.१२

४. प्री-शंकर अद्वैत फिलासोफी, संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, १९८२, पृ० १०३

५. ईशोपनिषद्, ४

६. वही, ५

७. प्री-शंकर अद्वैत फिलासोफी, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १५७

८. ब्रह्मसूत्र-शंकर भाष्य, सूत्र १.१.१२ की प्रस्तावना

९. भगवद्गीता, ६/४

१०. वही, १३/१२

११. दि क्रिटिकल फिलासोफी आफ काण्ट, डा० एडवर्ड केयर्ड, खण्ड १, पृ० ७

१२. गौडपाद कारिका, २.३४

१३. वही, ४.८३

१४. भारतीय दर्शन का इतिहास, डा० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता, खण्ड १, पृ० ४३५

१५. ब्रह्मसूत्र, २.१.११

१६. ब्रह्मसूत्र-शंकर भाष्य, २.२.१४

१७. अद्वैतपरिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्यप्रकाश पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, २००२, पृ० १६

१८. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १६८५, पृ० ५७

१६. ह्विदर इण्डियन फिलासोफी, संगम लाल पाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १६७८, पृ० ३५६-३७०

२०. ब्रह्मसिद्धि-तर्ककाण्ड, मण्डन मिश्र, पृ० ४४

२१. वही, पृ० ४४

२२. आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते।। वही, पृ० ३६

२३. वही, पृ० ३६-४५

२४. वही, पृ० ४४

२५. वही, पृ० ४७

२६. नभेदो वस्तुनो रूपं तद्भाव प्रसंगतः। अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते।। वही, पृ० ४७

२७. खण्डनखण्डखाद्य, श्रीहर्ष, १.४५, पृ० १२६

२८. तद्द्वैत श्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः। नानुमानादि तं कुर्त तवापि क्षमते मते।। वही, पृ० ११८

२६. वही, पृ० ११६

३०. वही, पृ० १३०

३१. वही, पृ० ३६६

३२. भारतीय दर्शन का इतिहास, डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, खण्ड-२, पृ० १४८

३३. तत्वप्रदीपिका, चित्सुखाचार्य, पृ० ५००

३४. तद्भावेऽपि तृणारणिमणीनां दहन हेतुत्वाङ्गीकारात्। वही, पृ० ५०३

३५. वही, पृ० ५२६

३६. 'बोधाय वादिविजयाय च सत्वराणागद्वैतसिद्धरियमस्तु मुदे बुधानाम्।' अद्वैत सिद्धि, मधुसूदन सरस्वती, पृ० ४

३७. वही, पृ० २२

३८. खण्डनखण्डखाद्य, ३, पृ० ४

३९. 'न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमति वैरुप्यात्।' शारीरक भाष्य, २.१.११

४०. तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवति।' केन-वाक्य-भाष्य- १.३

४१. 'केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वम् दर्शयिष्यति।' - शांकर भाष्य, २.१.६

४२. पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धनाः तर्क अप्रतिष्ठा भवन्ति, उत्प्रेक्षायां निरंकुशत्वात्।। वही, २.१.११

४३. वृहदारण्यक भाष्य, २.१.२०

४४. 'तर्काप्रतिष्ठानात्' ब्रह्मसूत्र, २.१.११

४५. शारीरक भाष्य, २.१.११

४६. वही, २.१.४

४७. गीता भाष्य, १८, ६६

४८. न हि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्। एतदपि तर्काणां प्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते।। शारीरक भाष्य, २.१.११

४९. भारतीय न्यायशास्त्र, डा० चक्रधर बिजल्वान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८३, पृ० ६६

५०. वही, पृ० ६४

५१. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद २००१, पृ० ३५

५२. शारीरक भाष्य, २.१.१०

५३. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३५

५४. शारीरक भाष्य, २.२.६

५५. वही, २.२.३०

५६. भामती, उपोद्घात-भाष्य

५७. शारीरक भाष्य, २.३.४१

५८. वही, २.१.३६

५९. वही, १.१.६

६०. वही, २.१.११, २.२.६

६१. 'स्वभावश्चेत् क्रियास्यात् अनिर्मोक्षतैवस्यात्'। - बृहदारण्यकोपनिषद भाष्य, ४.३.१५

६२. शारीरक भाष्य, २.१.११

६३. 'सामान्यतोदृष्टस्य अनुमानस्य अप्रामाण्ये सति पानभोजनादि सर्वव्यवहारत्सोपप्रसंगः सचानिष्टः।' बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, ४.३.६

६४. शारीरक भाष्य, २.२.१६

६५. कस्यचित् क्वचित्पक्षपाते सति पुरूषमतिवैश्वरूप्येण तत्वाव्यवस्थान प्रसंगात्। - वही, २.१.१

६६. वही, २.१.२७

६७. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगमलाल पाण्डेय, पृ० ४२

पंचम अध्याय

अद्वैत वेदान्त में प्रो० संगम लाल पाण्डेय की नूतन उद्भावनायें

अद्वैतवाद में प्रो० संगम लाल पाण्डेय की नूतन उद्भावनायें

प्रो० संगम लाल पाण्डेय वेदांतिक परम्परा के नीर-क्षीर विवेकी दार्शनिक हैं। यद्यपि उन्होंने अन्यान्य दर्शनों का गंभीर अनुशीलन किया तथापि उन सबका समन्वय अद्वैतवाद से करते हैं। उनके चिंतन में सुसंगति एकरूपता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्होंने दर्शन जगत् में संदर्शन, लोकायनदर्शन अनन्यताप्रस्थान इत्यादि सम्प्रत्ययों को विकसित किया है, जो प्रकारान्तर से मील के पत्थर साबित हुए हैं। यही नहीं, उन्होंने दर्शन की विचारावली में विभिन्न मौलिक एवं नूतन पदावलियों की उद्भावनायें भी की है, जो कि उनके चिंतन को अप्रतिम वैशिष्ट्य प्रदान करती है। ये नूतन उद्भावनायें निम्नलिखित हैं -

क - 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के स्थान पर 'व्यवहारे तु गांधी नयः'

ख - 'नेति-नेति' के मूल में 'इति-इति' की स्थिति

ग - माया का तार्किक संभावना के रूप में वर्णन

घ - आहार्यज्ञान का सिद्धान्त

च - स्फोटवाद से अद्वैतवाद का अविरोध

छ - अद्वैत मुक्तिवाद का सामाजिक विनियोग

ज - विज्ञान दर्शन और अद्वैतवाद

अब हम उपर्युक्त बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में प्रो० पाण्डेय के विचारों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे-

(क) 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के स्थान पर 'व्यवहारे तु गांधीनयः'

अद्वैत वेदान्ती परमार्थतः एक और अद्वितीय सत् को मानते हुए भी व्यवहार के लिए उसके अनुकूल कोई भी दर्शन मान सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि परमार्थ-दर्शन किसी एक व्यवहार-दर्शन से तर्कतः नहीं जुड़ा है। व्यवहार-दर्शन और परमार्थ-दर्शन में एक-एक का नहीं वरन् अनेक-एक का सम्बन्ध है। इसी आधार पर प्रो० संगम लाल पाण्डेय 'व्यवहारे तु गांधी नयः' की बात करते है और उसे वैसे ही अद्वैतानुसारी पाते हैं जैसे 'व्यवहारे तु भाट्टनयः'।[1]

गांधी के मार्ग में यथार्थ और आदर्श, व्यवहार और परमार्थ दोनों की मान्यता है। उनका यथार्थ भी आदर्श से प्रभावित होकर चलता है। बिना आदर्श के उनका यथार्थ टिक नहीं सकता। इस प्रसंग में प्रो० पाण्डेय का मत है कि गांधी का तरीका उन अद्वैतवेदान्तियों की तरह है जो कर्म-भक्ति का ज्ञान से क्रम समुच्चय करते हैं। वेदान्ती तो व्यवहारे तु भाट्टनयः कहकर व्यावहारिक स्तर पर कुमारिल भट्ट की मीमांसा का समर्थन ही करते हैं।[2] अद्वैत वेदान्त में प्रसिद्ध है कि 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' अर्थात् व्यवहार में, यथार्थ में कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त माना जाय। दूसरे शब्दों में कर्ममीमांसा के अनुसार जीवन निर्वाह किया जाय। पुनश्च, जैसा कि कुमारिल ने कहा कि कर्ममीमांसा के उपरान्त आत्मज्ञान के लिए वेदान्त की शरण में जाना चाहिए। वैसे ही गांधी भी कहते हैं कि कर्म के अनन्तर ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है जो आत्मज्ञान से ही संभव होती है। गांधी ने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर अपनी नव्य कर्ममीमांसा स्थापित की। वे व्यवहार में भी आदर्श को कभी भुलाते नहीं है और यथा शक्ति अपने व्यवहार को आदर्श के अनुरूप ही बनाते है जबकि कुमारिल की कर्ममीमांसा में प्रायः अद्वैत तत्व की अनुकूलता की अवहेलना कर बिल्कुल द्वैतभावना के अनुसार ही जीवन-दर्शन का निर्माण होता है। कुमारिल व्यवहार में अद्वैत भावना को लाने के लिए नहीं कहते जबकि गांधी की मान्यता है कि व्यवहार में द्वैतभावना अनिवार्य है तथापि हम उसको बहुत कुछ अद्वैतभावना के आधार पर

प्रतिष्ठित कर सकते हैं। कुमारिल के समाज दर्शन को अद्वैत वेदान्तियों ने मान लिया था तथा उन्होंने अपने अनुकूल समाजदर्शन या व्यवहार दर्शन की प्रतिष्ठापना नहीं की थी। गांधी ने इस कमी को पूरा करते हुए कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर एक अद्वैत परक समाज दर्शन दिया।

अब हम गांधी की बुनियादी ज्ञानमीमांसा, नव्य कर्ममार्ग एवं अद्वैत परक समाज दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'व्यवहारे तु गांधीनयः' की विवेचना करेंगे।

बुनियादी ज्ञानमीमांसा

गांधी की ज्ञानमीमांसा बुनियादी ज्ञानमीमांसा है। इसे हम मानवीय अनुभववाद भी कह सकते हैं, क्योंकि उसका विषय उसी प्रकार के अनुभव का विश्लेषण करना है जो मुख्यतः मानवीय है और पाशव, दानव या अतिमानव नहीं है। गांधी का मत गोचरवाद और अगोचरवाद के मध्य का है। वे अगोचरवाद तथा गोचरवाद दोनों को मानव के लिए त्याज्य समझते है। वे दोनों को जोड़ने की विचारणा करते हैं। अगोचरवादी ज्ञान वह साध्य है जो सदा दुष्प्राप्य है और गोचरवादी ज्ञान वह है जिसका स्वतः कोई अर्थ ही नहीं है। शास्त्र, बुद्धि और अन्तरात्मा से प्राप्त ज्ञान पर ही गोचरवाद की स्थिति, व्याख्या तथा उपयोगिता हो सकती है। यदि इनसे प्राप्तज्ञान पर व्यवहार या आचरण नहीं हो सकता तो वह ज्ञान व्यर्थ है। अतः वह ज्ञान यद्यपि गोचरमूलक नहीं होता तथापि वह गोचरों का आधार है। मानवीय अनुभव गोचरमूलक नहीं होता, गोचर ही मानवीय अनुभवमूलक होते हैं। इस दृष्टि से यह मानवीय अनुभव प्रतिगोचरमूलक (Transcendental) कहा जा सकता है, जो काण्ट की ज्ञानमीमांसा का अनुभव है।[3] पुनश्च, चूँकि मानवीय अनुभव सदैव असंपूर्ण तथा संभाव्य ही रहता, नितान्त सत्य या निश्चित नहीं होता, अतः उसे सदैव संशोध्य मानना चाहिए। परन्तु इसके लिए एक ऐसे लक्ष्यभूत ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है जो नितान्त समरूप हो, एकरूप हो। अतः अगोचरमूलक ईश्वरीय ज्ञान को हम अपने प्रतिगोचर मूलक ज्ञान का लक्ष्य बनाकर पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

गांधी कहते हैं कि बुद्धि इन्द्रियों के अनुसार न चले वरन् इन्द्रियाँ वृद्धि के अनुकूल चले, अन्तरात्मा व्यवहार के अनुकूल न हो वरन् व्यवहार अन्तरात्मा के अनुकूल हो, शास्त्रीय ज्ञान लौकिक ज्ञान के अनुकूल न माना जाय। वरन् लौकिक ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान के अनुकूल किया जाय। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के अनुसार बुद्धि को चलाना 'बहशियाना' है।[८] गांधी अन्तरात्मा से उसी वस्तु को समझते थे जिसे अद्वैतवादी आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। अन्तरात्मा की आवाज वस्तुतः आत्मज्ञान की झलक है जो सबको प्रयत्न करने पर मिल सकती है। गांधी का अन्तर्नाद कबीर का अनहद नाद नहीं है, यह रहस्य या गुह्य नहीं है अपितु यह बुद्धिगम्य है, सर्वसुलभ है। डेकार्ट, काण्ट तथा शंकर आदि ने तो तर्कतः आत्मा की अखंडनीयता तथा सर्वमान्यता सिद्ध की परन्तु गांधी ने उसे अपने कर्मक्षेत्र में सीखा और कर्म द्वारा ही अखण्डनीय तथा सर्वमान्य सिद्ध करने की कोशिश की। वस्तुतः अन्तरात्मा अनिवार्यतः कर्मोन्मुख है, यद्यपि वह प्रधानतः ज्ञान स्वरूप है। अतः कर्मठता में ही उसका सच्चा ज्ञान संभव है।''[९]

जहाँ तक ज्ञान की कसौटी का प्रश्न है-अद्वैत वेदान्त में सच्चे ज्ञान की कसौटी है- अव्यभिचारिता या नित्य एकरूपता। माध्यमिक दर्शन में सत्य ज्ञान की कसौटी है- शून्यता। यद्यपि दोनों की प्रणाली में भेद है तथापि दोनों की कसौटी एक ही है और वह है- परमतत्व या नित्य सर्वान्तर अद्वैत वस्तु की अनुभूति। गांधी इस कसौटी को संभाव्य आदर्श मानते हैं, यथार्थ नहीं। उन्होंने इसकी ओर निरन्तर बढ़ते रहने को ही ज्ञान, कर्म, जीवन सब की कसौटी माना है। अन्तरात्मा, बुद्धि तथा शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मसंयम की आवश्यकता है। इस कारण आत्मसंयम ज्ञानोदय का अवश्यंभावी पूर्ववर्त्ती है। आत्मसंयम का अर्थ अपने ऊपर अपना स्वत्व या अधिकार कायम रखना है, अपने को सुधारना-सँवारना है। इसकी फल आत्मशुद्धि या सत्वशुद्धि है जिसके उपरान्त ही सच्चा ज्ञान मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कर्म के अनन्तर ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है जो आत्मज्ञान से ही संभव होती है।

नव्य कर्ममार्ग

गांधी के नव्य कर्ममार्ग का लक्ष्य आत्मशुद्धि द्वारा ज्ञानोदय प्राप्त करना है। आत्माशुद्धि कर्म से ही संभव है। गांधी गीता की निम्नलिखित अवधारणा को अक्षरशः सत्य मानते थे -

"शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।"[६] गांधी के अनुसार कर्म फल-त्याग या अनासक्ति योग गीता का मध्यबिन्दु है। कर्म करने से ही परमलक्ष्य की प्राप्ति होती है परन्तु साथ ही कर्म बन्धनकारी भी होता है। वस्तुतः कर्म का फल त्याग देने से कर्म बन्धनकारी नहीं होते। कर्म के फल में आसक्ति रखना ही कर्म को बन्धनकारी बनाता है। उसका परित्याग करने से कर्म पापरहित हो जाता है। 'निषिद्ध केवल फलासक्ति है, बिहित है अनासक्ति'।[७]

गीता ने यज्ञ, दान और तप को अत्यन्त आवश्यक कर्म बताया है। इनका परित्याग कभी भी नहीं किया जा सकता है। गीता के यज्ञ का अर्वाचीन अर्थ करते हुए गांधी ने कहा-"यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ, किए हुए कर्म"।[८] उन्होनें इसका विशद् अर्थ करते हुए आगे बताया कि जैसे प्राचीन यज्ञों का साधन अग्नि थी, वैसे अद्यतन यज्ञों का साधन चरखा होना चाहिए। प्राचीन यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किए जाते थे, अद्यतन यज्ञ भी उन्हीं को खुश करने के लिए होने चाहिए। परन्तु देवता का अर्थ-ईश्वर की अंशरूपी शक्ति से है। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान शक्तियाँ देवता है। उनकी आराधना का फल तुरन्त इस लोक में देखने को मिलता है।[९] इस प्रकार गांधी ने चरखा कातना, बुनकर का काम करना आदि रचनात्मक कार्यों को यज्ञ बतलाया है।

गांधी ने निष्काम-भाव से सभी कर्मों के करने पर बल देते हुए कहा है कि कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि, लोक-संग्रह तथा ईश्वरभक्ति ही है। इन तीन प्रयोजनों को छोड़कर कर्म का और कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। इनमें से किसी प्रयोजन को छोड़ देने से सच्ची निष्कामता, सच्ची अनासक्ति नहीं आयेगी। अतः जो कर्म आत्मशुद्धि के लिए है, वही लोक-संग्रह तथा ईश्वर-भक्ति के लिए भी है। इसी प्रकार जो कार्य लोकसंग्रह या ईश्वर भक्ति के निमित्त से किया जाता है, उससे सभी प्रयोजनों की प्राप्ति होती है। वस्तुतः ईश्वरार्पण किए बिना लोकसंग्रह के निमित्त कर्म नहीं हो सकते। लोकसंग्रह की भावना के बिना आत्मशुद्धि के निमित्त कर्म नहीं किए जा सकते। आत्मशुद्धि के बिना निष्काम कर्म नहीं किए जा सकता है।

कर्म की अनिवार्यता बतलाते हुए गांधी ने कहा है कि कर्म के बिना शरीर-यात्रा, जीवन गति भी नहीं चल सकती और सिद्ध से सिद्ध महापुरूष तथा परमेश्वर भी कर्म में दिन-रात रत रहते हैं। निष्कर्मता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा-'निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव'।[१०] इसी को और विशद् करते हुए उन्होंने कहा-मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति (सूर्य, चन्द्र आदि) यन्त्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धि पूर्वक किन्तु यन्त्र की ही भाँति नियमित कर्म करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यन्त्रगति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गति का अनुकरण करने में है।[११] यह मत अद्वैत वेदान्तियों के मत को अधिक स्पष्ट करता है कि ज्ञानी जड़वत् आचार या व्यवहार करता है।

अद्वैत परक समाज-दर्शन

गांधी ने अद्वैत वेदान्त की ही भाँति समाज को व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बद्ध कर तदनुकूल समाज व्यवस्था की उद्‌भावना की। यद्यपि अद्वैत वेदान्त आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने में विशेष रूप से प्रवृत्त है, किन्तु उससे अन्ततः व्यक्ति के जीवन और समाज की व्यवस्था आदर्श रूप प्राप्त करती है और यही उसकी सार्थकता है। हिन्दू धर्म के चार वर्णों और चार आश्रमों में गांधी की अविचल श्रद्धा थी। उनका कहना था कि गुण और कर्म के अनुसार ही चार वर्णों की सृष्टि की गयी है। ये चार वर्ण हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपना पुश्तैनी, वर्णीय पेशा करें। स्वधर्म ही करना चाहिए, चाहे वह अच्छा न भी समझा जाता हो। जैसा कि गीता में कहा गया है-पराये धर्म के सुलभ होने पर भी, उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म से मृत्यु भली है, परधर्म भयावह है।[१२]

परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि गांधी जाति-पाँति को मानते थे और जातियों की श्रेष्ठता-निकृष्टता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार कर्म से कोई जाति नहीं बन सकती, कर्म से कोई छोटा या बड़ा, ऊँच या नीच हो सकता। भंगी और ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय सब

बराबर है। वर्ण का सिद्धान्त जाति का सिद्धान्त नहीं है।[13] वर्ण का सिद्धान्त नैतिक है जो सामाजिक कर्तव्यों के वर्गीकरण और विभाजन पर आधारित है। जाति का सिद्धान्त अनैतिक है, उससे कोई लाभ नहीं हो सकता। समाज की मर्यादा के लिए जितने कार्य आवश्यक है, उनको सदैव करना पड़ेगा। एक व्यक्ति सब काम नहीं कर सकता। इस कारण वर्ण के सिद्धान्त की सदैव अपेक्षा रहेगी। गांधी जन्मना वर्ण के पक्षधर थे। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण सभी को जन्मना ही शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण मानना चाहिए, कर्मणा नहीं।

इस प्रसंग में प्रो० पाण्डेय ने कहा है कि एक दृष्टि से सभी हिन्दू ब्राह्मण हैं क्योंकि उन्हें अपने-अपने वर्णगत कर्म को निष्काम भाव से करने से ब्रह्म विद्या प्राप्त हो सकती है, मोक्ष मिल सकता है। दूसरी दृष्टि से सभी लोग आज शूद्र हैं क्योंकि वे समाज के सेवक हैं, श्रमजीवी हैं।[14] दूसरे शब्दों में जो शारीरिक श्रम करके जीविका-निर्वाह करें वह शूद्र है और जो बौद्धिक श्रम करके जीविका निर्वाह करे वह ब्राह्मण है। फिर जब बौद्धिक और शारीरिक श्रम का भेद न रह गया, बुद्धिजीवियों के लिए शरीर-श्रम अनिवार्य रखा गया और शरीर-श्रमजीवियों के लिए बुद्धि-श्रम का विधान किया गया तो निःसंदेह सभी लोग शूद्र हो गये। परन्तु इसे बुरा नहीं समझना चाहिए। यदि इसके साथ यह भी मानें कि सभी लोग ब्राह्मण हैं अर्थात् ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं और मात्र सेवाभाव के लिए श्रमजीवी हैं तो वस्तु-स्थिति बहुत सन्तोषजनक हो जाती है।

'आश्रम वर्ण का अनिवार्य अनुषंगी है।'[15] आश्रम चार है-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। सामान्यतः मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है। मनुष्यता की सभी विशेषताओं को विकसित करने के लिए इस आयु को चार बराबर भागों में बाँटकर २५-२५ वर्ष के लिए क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास की व्यवस्था की गयी है। शंकराचार्य की भाँति गांधी ने भी समझा कि भारतीय संस्कृति की सनातन समृद्धि का मूलकारण आश्रम की संस्था है और इस कारण उन्होंने इसका पुनरूद्धार किया। "चारों आश्रम प्रगति के सोपान है और अन्योन्याश्रय है। इसलिए कोई वानप्रस्थ और संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह ब्रह्मचर्य और सन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के नियमों

का पालन नहीं करता। आश्रम का नियम आज लुप्त है। इसको तभी पुनर्जीवित किया जा सकता है जबकि वर्ण के नियम का पालन किया जाय क्योंकि दोनों का अपरिहार्य सम्बन्ध है।"[९६] चारों आश्रमों का जड़ ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की चर्या ही चारों आश्रमों का लक्ष्य है। पुनश्च गांधी ने गृहस्थ के लिए कुछ अर्वाचीन नित्य कर्म बताये, जैसे - चरखा, यज्ञ, शरीर-श्रम, आतिथ्य-सत्कार, केवल सन्तानोत्पत्ति हेतु मैथुन, नित्य भगवत्प्रार्थना और देश की यथाशक्ति सेवा करना आदि। वानप्रस्थ में गांधी ने थोड़ा परिवर्तन किया। उन्होंने ब्रह्म की खोज में गृहस्थ आश्रम को छोड़कर समाज में रहकर राष्ट्रीय कर्म करने की व्यवस्था की। संन्यास आश्रम का भी गांधी ने कुछ नया अर्थ किया है। उनकी दृष्टि में संन्यासी वह है जो पूर्ण अनासक्त है, निष्काम है तथापि अपना नित्य कर्म करता है। उसका सदा ध्यान ब्रह्म पर रहता है। अन्त में ब्रह्म हो जाता है। निष्काम सेवा करना सन्यासी का अनिवार्य लक्षण है। इस प्रकार गांधी के वानप्रस्थ को पूर्ण निष्काम बना देने से वह सन्यास बन जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति

गांधी के नव्य-कर्म मार्ग का लक्ष्य आत्मशुद्धि द्वारा ज्ञानोदय प्राप्त करना है। बुनियादी ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत संस्कार से ही अन्तरात्मा के ज्ञान की उत्पत्ति मानी गयी है। इस प्रकार गांधी का मार्ग क्रम से कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग था अर्थात् वे कर्म और क्रम से कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग था अर्थात् वे कर्म और क्रम समुच्चय को मानते थे। वस्तु सत्य तो यह है कि उनके मार्ग में ज्ञान और कर्म का युगपत् समुच्चय है। ज्यों-ज्यों कर्म होता है, त्यों-त्यों ज्ञान होता है और ज्यों-ज्यों ज्ञान होता है त्यों-त्यों कर्म होता है। चूँकि गांधी के कर्म मार्ग की प्रेरणा ईश्वर की श्रद्धा में है और उनका ज्ञान ईश्वर-दर्शन या हरिदर्शन है जिसके लिए निशिदिन प्रतिक्षण सच्ची प्रार्थना हृदय से होती रहनी चाहिए। इसलिए हम कह सकते हैं कि वे भक्ति का भी अपने मार्ग में समन्वय करते थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि गांधी समुच्चय मार्गी होते हुए भी विशुद्ध ज्ञान मार्ग को आदर्श व्यवस्था में सम्भव मानते हैं। उनका कहना है कि हम जैसे अपूर्ण मनुष्यों के लिए कर्म, भक्ति और ज्ञान का समुच्चय-मार्ग ही पल्ले पड़ा है, पर यह संभव नहीं वरन् निश्चित है

कि हमें जब अपने आदर्श की प्राप्ति होगी तब कर्म और भक्ति छूट जायेंगे और विशुद्ध अद्वैत ज्ञान ही शेष रह जाएगा।[१७]

इस विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गांधी ज्ञान, भक्ति और कर्म के सह समुच्चयवादी थे। उनके ज्ञान, भक्ति और कर्म के सहसमुच्चयन में आदर्श और व्यवहार का जितना सुन्दर निदर्शन हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अद्वैत तत्व के आधार पर समाज-रचना करने का दर्शन दिया और उस पर आचरण करके और करवा कर सिद्ध किया कि वह व्यवहार्य है। सिद्धान्त और व्यवहार की एकरूपता का बड़े से बड़े पैमाने पर प्रयोग करना गांधी की अप्रतिम विशेषता रही है। पुनश्च, जहाँ प्राचीन वेदान्त व्यवहारे तु भाट्टनयः अर्थात् द्वैतवाद को मानता है वहाँ नव्य वेदान्त व्यवहार में भी अभेदवाद को मानता है जिसमें सामाजिक और आर्थिक समानता को पारमार्थिक एकता का निष्कर्ष कहा गया है। वह परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य के दो वेमेल सिद्धान्तों को नहीं मानता वह परमार्थ मूलक व्यवहारवाद है, इसे अभेदवादी व्यवहार भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' इस युक्ति से अधिक समीचीन अर्वाचीन अद्वैत वेदान्त के लिए 'व्यवहारे तु गांधीनयः' उक्ति है।

(ख) 'नेति-नेति' के मूल में 'इति-इति' की स्थिति

अद्वैत वेदान्त में आत्मा या ब्रह्म को जानने का मार्ग है-अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया। अध्यारोप तथा अपवाद द्वारा ही निष्प्रपंच सत् का निरूपण किया जाता है।[१८] यह ज्ञानमार्ग का प्रतिषेधक वर्णन है। यह 'नेति-नेति' का मार्ग है, इसके पीछे 'इति-इति' का भी मार्ग छिपा है। बिना 'इति-इति' के कोई व्यक्ति किस आधार पर नेति-नेति' कह सकता है? गांधी का ध्यान इसी 'इति-इति' की प्रक्रिया पर था, इसी को वे 'सत्याग्रह' कहते हैं अर्थात् सत्य का शाश्वत आग्रह जो नेति-नेति के मार्ग में आद्योपान्त व्याप्त रहता है। सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए प्रो० पाण्डेय ने दिखलाया है कि इसके मूल में इति-इति की प्रक्रिया है जो 'नेति-नेति' की प्रक्रिया का आधार है।[१९] तथा जिसका व्यावहारिक रूप सत्याग्रह है। इति-इति की प्रक्रिया को उपनिषदों में 'एतद् वैतद्'[२०] कहा गया है। वास्तव में यह अनन्यता एतद् वैतद् सिद्धान्त की

अभिव्यक्ति है। एतद् वैतद् स्वरूप की पहचान कराने वाला श्रुतिवाक्य है। यह आधुनिक शब्दावली पहचान की विधि (Method of Indentification) है। इस प्रकार सत्याग्रह जिस सिद्धान्त पर आधारित है। वह अनन्यता का सिद्धान्त है।

अब हम सत्याग्रह की प्रयोगवादी ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में 'इति-इति' या 'एतद्-वैतद्' की प्रक्रिया का निरूपण करेंगे।

सत्याग्रह ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक स्वस्थ सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के मूल में 'इति-इति' की प्रक्रिया है जो नेति-नेति की प्रक्रिया की आधारभूमि है। इस प्रक्रिया का व्यावहारिक रूप से अनुप्रयोग सत्याग्रह सिद्धान्त में परिलक्षित होता है।

गांधी सत्य की कसौटी बतलाते हुए निम्नलिखित बातें कहतें है कि सच्चे ज्ञान की कसौटी- (१) अन्तरात्मा है, (२) एकवचनीत्व कथनी-करनी की एकता अथवा मन, वाणी और कर्म की एकता है, जिसे हम अविरोध (Consistency) कह सकते हैं, (३) समयानुकूल सच्चा प्रतीत होने वाले ज्ञान की आचरण-प्रवणता है जो अनिवार्यतः विरोधपूर्ण होता रह सकता है, (४) अनन्त सत् या परमात्मा है जिसकी सत्ता बोध है और जिसका बोध सत् है, और (५) सदा दूरगामी शून्यता है, जिसका अर्थ माध्यमिकों की शून्यता लेकर कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सच्चे ज्ञान की विभिन्न कसौटियाँ है परन्तु वास्तविकता यह है कि सच्चे ज्ञान की कसौटी एक ही है, अनेक नहीं और वह है 'सत्याग्रह' या सत्यता का आग्रह या अभिनिवेश।

अद्वैत वेदान्त में सच्चे ज्ञान की कसौटी है- अव्यभिचारिता या नित्य एकरूपता। माध्यमिक बौद्ध दर्शन में सच्चे ज्ञान की कसौटी है-शून्यता। यद्यपि दोनों की प्रणाली में विभेद है तथापि दोनों की कसौटी एक ही है और वह है- परम तत्व या नित्य सर्वान्तर अद्वैत वस्तु की अनुभूति। गांधी इस कसौटी को संभाव्य आदर्श मानते है, यथार्थ नहीं। गांधी न तो शंकराचार्य की भाँति बुद्धिमार्गी या ज्ञानयोगी (Dialectician) हैं, जो अपने को कहते हें कि मैंने बुद्धि से परमतत्व को प्राप्त कर लिया है। और न ही नागार्जुन की भाँति रहस्यवादी या ध्यानयोगी (Mystic) ही है, जो कहते हैं कि मैंने प्रज्ञा (Intuition) से परम तत्व को प्राप्त कर लिया है।

गांधी ने इन दोनों के आदर्श को सम्भव अपने ही लिए नहीं वरन् सबके लिए माना है। पर जब तक यह आदर्श प्राप्त न हो जाय इसे हम अपने ज्ञान की कसौटी कैसे बना सकते हैं? अतः उन्होंने इसकी ओर निरन्तर बढ़ते रहने को ही ज्ञान, कर्म, जीवन सभी की कसौटी माना। यदि हम आदर्श को सत्य कहें तो इस सिद्धान्त को सत्याग्रह कह सकते हैं। यह बुद्धिपूर्वक सत्य की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति है, अभिनिवेश है, हठ या आग्रह है।

यहां प्रो० पाण्डेय कहते है कि आत्मा ही एक मात्र तत्व है, क्योंकि वह प्रत्येक विषय या प्रत्यय में निहित है। इस दृष्टि से सर्वत्र समरूप से आत्मदर्शन ही होता है।[२१] प्रत्येक मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के अस्तित्व का कुछ बोध होता है। संस्कार या आत्मसंयम से हम अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जैसे-जैसे आत्मसंयम बढ़ेगा, वैसे-वैसे यह ज्ञान भी अधिक स्पष्ट होगा। अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान बौद्धिक ज्ञान का आधार है। चूँकि आत्मसंयम की वृद्धि से, बुद्धि के बढ़ते हुए उसके समर्थन से, इस आत्मप्रतीति का अर्थ भी बढ़ता रहता है, अतः क्या यह माना जाय कि अन्तरात्मा जो बौद्धिक ज्ञान की कसौटी है, परिवर्तनशील है। गांधी वस्तुतः इस प्रकार की आत्म प्रतीति को परिवर्धमान मानते हैं। आत्म प्रतीति का अधिकाधिक अनुभव करते जाना ही सत्याग्रह है, अर्थात् सत्य का अधिकाधिक अनुभव करना है। इस आत्म प्रतीति की प्रगति पूर्ण सत्य या परमतत्व तक हो सकती है परन्तु कभी भी आत्म प्रतीति उस परमतत्व में हम मनुष्यों के जीवनकाल में समा नहीं सकती। अतः हम मात्र सत्याग्रह तक ही रह जाते हैं। आरंभिक या आदिम आत्मप्रतीति तथा चरम अद्वैतानुभूति या आत्मज्ञान दोनों की मध्यमा प्रतिपत् यह सत्याग्रह है। दूसरे शब्दों में पहली से अधिक और दूसरी से अल्प है। जिन वृत्तियों से हमें अन्तरात्मा की प्रतीति होती है, उन्हें हम सत्य मानेंगे, शेष को असत्य। यही इति-इति की स्थिति है।

इस प्रकार सत्याग्रह नित्य बढ़ते रहने पर भी नित्य एकरूप बना रहता है। यह एकरूपता दो प्रकार से स्पष्ट की जा सकती है- पहले, सत्याग्रह सर्वजन-सुलभ आरंभिक प्रतीति के अनुरूप होता है। दूसरे, यह कल्पित पूर्ण तत्वानुभूति या अद्वैतानुभूति की ओर उन्मुख रहता है। यदि सत्याग्रह में ये दोनों बातें नहीं है तो फिर वह सत्याग्रह न होकर असत्याग्रह या मिथ्याग्रह है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार गांधी कोरे तर्कविदों की तरह सत्य को केवल वाणी, वचन या वाक्य का ही गुण नहीं मानते थे। सत्य वाणी या वाक्य का गुण तो है कि किन्तु यह वाणी के उत्स हृदय का भी गुण है। वह भावनाओं या उद्वेगों का भी वैसा ही गुण है जैसा कि वह प्रत्ययों या वृत्तियों का गुण है। पुनश्च, वह कर्म का भी गुण है। इतना ही नहीं, वह वाणी की एकरूपता, हृदय की एकरूपता या कर्म की एकरूपता ही नहीं है वरन् इन तीनों की पारस्परिक एकरूपता भी है।[२२] सत्य वही हो सकता है जो आचरणीय हो। अनाचरणीय कभी भी सत्य नहीं हो सकता है।

सत्याग्रह जिस प्रकार ज्ञान की एकरूपता में सत्याभिनिवेश हो जाता है, उसी प्रकार वह वाणी, मन या हृदय और कर्म की एकरूपता में सत्याचरण हो जाता है। सत्याग्रह का हृदयगत, बुद्धिगत और कर्मगत अर्थ भी है। हृदयगत अर्थ दया की प्रवणता है, बुद्धिगत अर्थ सत्य का अभिनिवेश है और कर्मगत अर्थ अहिंसा है। कभी अहिंसा शब्द का उपयोग तीनों अर्थों के लिए किया जाता है और तब वह सत्याग्रह का पर्याय बन जाता है। वास्तव में सत्याग्रह सिद्धान्त को खोज लेने से बौद्धदर्शन की परिवर्तनशील शून्यता और वेदान्त दर्शन की कूटस्थ आत्मा का मध्यम मार्ग मिल जाता है। इस प्रकार सत्याग्रह स्थिर होते हुए भी परिवर्तनशील है, आत्मानुभूति होते हुए भी शून्यता है। आचरणानुकूलता को सत्यता की कसौटी मान लेने पर प्रतीत होता है कि गांधी उपयोगवादी (Pragmatist) थे। वे अभ्यासी थे, अभ्यास के अनुसार वे अपने सिद्धान्त में भी फेरबदल कर लेते थे। पर यह कसौटी का एक पहलू है। दूसरा पहलू दया का उद्रेक है, इससे लगता है कि गांधी भक्त थे अथवा परम कारूणिक बोधिसत्व थे। वस्तु सत्य तो यह है कि उनकी कसौटी केवल आचरणाग्रह और दयाग्रह ही नहीं है वरन् सत्याग्रह अथवा सच्चे ज्ञान का आग्रह है। यहाँ गांधी विज्ञानवादी (Idealist) प्रतीत होते है। इन तीनों का मेल बैठ जाने से सत्याग्रह विश्वदर्शन में वर्तमान भारत की एक महान देन हो गया है।

वर्तमान समय में पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रयोगवाद (Experimentalism) की ज्ञानमीमांसा और सत्याग्रह की प्रयोगवादी ज्ञानमीमांसा में अंतर है। पाश्चात्य प्रयोगवाद में कोई मानदण्ड स्थिर नहीं है, उसका सदा परिवर्तन होता रहता है जबकि सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में परिवर्तित होने वाले ज्ञानरूपों या सिद्धान्तों में कम से कम सत्यता के प्रति प्रवृत्ति सदैव अचल

और नित्य रहती है। यद्यपि दोनों ज्ञानमीमांसायें सापेक्ष्यवादी हैं, पर सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में जो सत्याभिनिवेश सभी प्रयोगों में झलकता है, उसको पूर्णरूप से प्राप्त करने का लक्ष्य निरपेक्ष है।

सत्याग्रह के प्रयोगवादी ज्ञानमीमांसा के विश्लेषणोपरान्त कहा जा सकता है कि नेति-नेति के मूल में इति-इति की प्रस्थिति सदैव विद्यमान रहती है। यद्यपि इति-इति प्रक्रिया नेति-नेति प्रक्रिया के साथ चलती है परन्तु इति-इति की प्रक्रिया का जितना सुन्दर निरूपण गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गांधी ने इस प्रक्रिया को पहचाना। उनकी दृष्टि निषेध पर कम जाती थी, विधि पर अधिक। अतः वे अध्यारोपापवाद प्रणाली को विधायक रूप देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने इसके विधायक पक्ष पर जोर देकर सत्याग्रह कहा। प्रो० पाण्डेय ने सत्याग्रह को अनन्यता के सम्प्रत्यय पर आधारित करते हुए माना है कि आत्मा ही एकमात्र तत्व है, क्योंकि वह प्रत्येक विषय या प्रत्यय में निहित है। इस दृष्टि से सर्वत्र समरूप से आत्मदर्शन ही होता है। शांर्गधर के श्लोक में परिवर्तन करते हुए उन्होंने इति-इति की प्रणाली की सुन्दर व्याख्या की है -

> "इतोऽस्ति तत्वं परतोऽस्ति तत्वं,
> यतो यतो यामि ततोऽस्ति तत्वम्।
> विचार्य पश्यामि यथार्थ तत्वं,
> स्वात्माव बोधापरनाम तत्वम्।।"[२३]

आत्मा प्रतिबोध विदित है अतः यहाँ जो है वह आत्मा है, अन्यत्र जो है वह आत्मा है। जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ-वहाँ आत्मा है। वास्तव में आत्मा ही तत्व है। तत्व आत्मज्ञान का ही अपरनाम है, क्योंकि आत्मा का निर्देश 'तत्' के द्वारा करना उसका तर्कसंगत विवरण है। सत्याग्रह भी इसी तत्वानुभूति या अद्वैतानुभूति की ओर उन्मुख रहता है।

(ग) माया का तार्किक संभावना के रूप में वर्णन

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने माया सिद्धान्त का विश्लेषण अत्यन्त तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है है कि- 'इन्द्रोमायाभिः पुरूरूप ईयते', 'रूपं रूपं

प्रतिरूपो बभूव', 'नेहनानास्ति किंचन', 'सदेव सोम्य इद्रमग्र आसीत', 'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'-इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि सम्पूर्ण जगत माया का प्रपंच है और वह परमार्थतः सत् नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदों उपनिषदों में मायावाद के बीज इतस्ततः बिखरे हुए है। इन्हीं बीजों को गौड़पाद और शंकराचार्य ने एकत्र करके मायावाद को एक सिद्धांत के रूप में प्रस्तावित किया। दूसरे शब्दों में, माया वेदोपनिषद की विचारधारा का आन्तरिक विकास है। अस्तु मायावाद सर्वथा वैदिकमत है।

प्रो० पाण्डेय ने मायावाद के विकास की कई अवस्थाओं का उल्लेख किया है,[२४] जिनमें-पहली अवस्था, वेदों और उपनिषदों में है, इसे हम 'रहस्यवादी मायावाद' कह सकते हैं। दूसरी अवस्था बौद्धमत में है जिसे हम 'विज्ञानवादी अवस्था' कह सकते हैं। तीसरी अवस्था गौड़पाद और शंकर के अद्वैतवाद में है जिसे हम 'अनिवर्चनीयवादी अवस्था' कह सकते हैं। किन्तु मायावाद के विकास का प्रक्रम यही नहीं ठहर जाता है अपितु वैष्णव और शैव दर्शनों में भी मायावाद का विकास हुआ है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है-

'गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब जानेउ माया भाई।।'

माया केवल एक शुद्ध तत्वमीमांसात्मक या ज्ञानमीमांसात्मक सम्प्रत्यय ही नहीं है अपितु वह अनिवार्यतः एक मूल्यमीमांसात्मक संप्रत्यय भी है। शंकराचार्य का अभिमत है कि सृष्टि चिंतन निष्प्रयोजन है और परमार्थ के पथिक को सृष्टि चिंतन छोड़कर ब्रह्मचिंतन करना चाहिए। मायावाद ब्रह्मचिंतन की ओर ले जाने वाला अचूक मार्ग है। इससे वैराग्य उत्पन्न होता है और उसके अभ्यास द्वारा ब्रह्मज्ञान सुलभ हो जाता है। आचार्यसायण ने 'नासदीय सूक्त' की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है- "जगतो मूल कारण तद्सच्छशविषाण वन्निरूपाख्यं, नासीत् नो सन्नैव सदात्मवत्तवेन निर्वाच्यमासीत्, उभय विलक्षणम निर्वाच्यमेवासीत्।" अर्थात् जगत् का मूलकारण शशविषाणवत् निरूपाख्य नहीं है वह आत्मवत् भी नहीं था, किन्तु वह असत् और सत् से विल्क्षण अनिर्वाच्य था। कुल मिलाकर माया विवर्त्तरूप, अध्यासरूप, सद्सत् विलक्षण, अनादि परन्तु सान्त भाव रूप, आवरण एवं विक्षेप शक्ति से युक्त, जड़-प्रकृति रूप, विज्ञान निरस्या, ब्रह्म की विलक्षण शक्ति आदि के रूपों में माना जाता है।

अब हम माया शब्द की व्युत्पत्ति, माया की प्रकृति स्वरूप एवं लक्षण इत्यादि का विवेचन करेंगे।

अद्वैत वेदान्त में माया ही एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जो जगत् की वस्तुओं और जीवों के नानात्व की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हो सकती है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग इंद्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया और उपनिषदों में वही जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गयी। शंकर के अद्वैत वेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

'माया' संस्कृत भाषा का एक सारगर्भित शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है-

सर्वप्रथम, माया शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न है। 'मीयते या सा माया'-अर्थात् जो मापा जाता है वह माया है, अथवा 'मीयते अनया सा माया' अर्थात् जिससे मापा जाता है, वह माया है। इस प्रकार माया एक मापदण्ड है।

दूसरे माया की व्युत्पत्ति 'मा' और 'या' इन दो शब्दों के योग से की जाती है। 'मा' का अर्थ 'नहीं' या 'न' है और 'या' का अर्थ-जो कुछ या 'यत् किंचित' है। इस प्रकार माया का अर्थ 'न-सत्' या 'नो-सत' है। प्लेटो का 'मी-आन' (me-on) शब्द माया शब्द से ध्वनि साम्य और अर्थ साम्य रखता है।[२५] 'मी' का अर्थ 'नञ्' या 'न' है और 'आन' का अर्थ 'सत्' है। प्लेटो 'नान-वीइंग' को मी-आन कहते हैं। यदि हम इसे असत् कहें तो यह माया का वाचक न होगा, किन्तु इसे यदि हम 'न-सत' या 'नो-सत्' कहे और इसे असत् से वैसे ही भिन्न करे जैसे इसे सत् से भिन्न करते हैं तो निश्चय ही मी-आन' शब्द 'माया' का वाचक है। दूसरे शब्दों में माया सत् नहीं है अथवा जो सत् नहीं है, वह माया है।

तीसरे, ब्रह्मवैवर्त पुराण में माया की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है -

'माश्च मोहार्थ वाचको याश्च प्रापण वाचकः।
तां प्रापयति नित्यं सा माया प्रकीर्तिता।।'

अर्थात् 'मा' का अर्थ-मोह है और या का अर्थ प्रापण (प्राप्त कराने वाला) है। जो मोह को प्राप्त कराता है वह माया है। इस दृष्टि से माया के साथ मोह शब्द भी जुड़ गया है और लोक व्यवहार में मोह-माया और माया-मोह शब्द प्रचलित हो गये हैं।

चौथे, माया की व्युत्पत्ति करते हुए शैव दर्शन में कहा गया कि 'मा' धातु और 'आङ़' उपसर्ग तथा 'या' धातु और 'धत्' प्रत्यय के योग से माया शब्द बनता है। इस प्रकार

मा + आ + धत् = माया। जो मा है और आया है, वह माया है-

'मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वम जगत्सृष्टो व्यक्तिमायातीति माया'- अर्थात् प्रलय दशा में जिसमें समस्त जगत् शक्ति रूप में नापा जाता है और सृष्टि दशा में जो अभिव्यक्ति होती है वह माया है।

पाँचवे माध्व वेदान्त में माया शब्द की व्युत्पत्ति 'मय' शब्द से की गयी है। मय शब्द से स्वार्थ अर्थ में अण् प्रत्यय लगने से 'माय' बनता है। अर्थात् माय शब्द का ही रूप स्त्रीलिंङ्ग में माया है। इन सभी व्युत्पत्तियों के हेतु का पता लगाने के लिए हमें मायावाद को समझना चाहिए।

मायावाद क्या है?

अद्वैत वेदान्त से भिन्न समस्त दर्शनों में माया का प्रयोग इंद्रजाल, असत् भ्रम, स्वप्न, रहस्य और मोह के अर्थ में किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त में माया का प्रयोग इनसे भिन्न अर्थों में किया जाता है। जैसा कि स्वामी विद्यारण ने माया के स्वरूप को त्रिबिध बतलाते हुए कहा है -

> "तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
> ज्ञेया माया त्रिभिर्वोधेः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।"[२६]

अर्थात् माया को तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तविक जानना चाहिए। श्रुति प्रमाण से माया तुच्छ है अर्थात् वह अत्यन्त असत् है, जैसे आकाश-कुसुम या बंध्या-पुत्र असत् है। युक्तियों के बल पर सिद्ध है कि माया अनिर्वचनीय है अर्थात् वह सदसद् से विलक्षण है। प्रत्यक्ष प्रमाण से

सिद्ध है कि माया वास्तविक है। इस प्रकार माया की अवधारणा में (१) 'तुच्छ' अर्थात् अलीकता या नितान्त असत् (२) अनिर्वचनीयता' या सदसद् से विलक्षणत्व और (३) 'वास्तविकता' ये तीन प्रत्यय संपुटित हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से जगत् असत् है क्योंकि परमार्थतः एकमात्र ब्रह्म ही सत् है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत् है और जगत् का अस्तित्व भ्रम या स्वप्न के सदृश नहीं है। अद्वैत वेदान्त में तीन प्रकार के सत् की विवेचना की गयी है- प्रातिभासिक सत्, व्यावहारिक सत् और पारमार्थिक सत्। प्रातिभासिक सत वह है जो भासित होता है किन्तु परवर्त्ती अनुभव से बाधित हो जाता है। स्वप्न पदार्थ और भ्रम पदार्थ (शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्पआदि) प्रातिभासिक सत् है क्योंकि वे भासित होते हैं। स्वप्न पदार्थ जाग्रतावस्था में बाधित होते हैं। और भ्रम पदार्थों का निरास भी अधिष्ठान वस्तु के ज्ञान से हो जाता है। जागतिक वस्तुओं जैसे घट पट आदि का अस्तित्व व्यावहारिक है। वे केवल प्रतीयमान नहीं है बल्कि उनमें एक नियम और सातत्य है जो कार्यकारण संबंध से बंधा है और इनका अस्तित्व अविनाशी और नित्य नहीं है। इनके मूल में एक सत्ता है जो उत्पत्ति, विनाश से रहित है। यही सत्ता ब्रह्म है। ब्रह्म का अस्तित्व निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और नित्य है। उसके परिप्रेक्ष्य में जगत् की वस्तुओं का अस्तित्व अनित्य और असत् है। इस कारण यदि ब्रह्म सत् है तो जगत् मिथ्या है। परमार्थतः केवल ब्रह्म ही सत् है और ब्रह्म से जो कुछ भिन्न है वह सब मिथ्या है।

युक्तियों से माया के स्वरूप का निर्धारण करते हुए वेदान्तियों ने माया के पाँच लक्षण किये हैं। सभी के मतों में माया का अर्थ मिथ्या है।[२७]

(क) पद्मपाद ने कहा कि माया सदसद् से विलक्षणत्व है 'सदसद् विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्'। माया सत् नहीं है जैसे आत्मा सत् है। माया असत् नहीं है जैसे बंध्यापुत्र असत् है क्योंकि उसका अनुभव होता है। अतः माया सत् और असत् से विलक्षण है।

(ख) आनन्दबोध ने कहा कि माया सद् से विविक्त या भिन्न है 'सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्'। आत्मा सत् है उसे विविक्त जो कुछ दृश्य है वह माया है।

(ग) प्रकाशात्मा ने कहा कि माया वह है जो ज्ञान से निवर्त्य है 'ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'। स्वप्न का अनुभव जागने पर निवृत्त हो जाता है। अतः स्वप्न माया है।

भ्रम का विषय, ज्ञान होने पर दूर हो जाता है। अतः भ्रम का विषय माया है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य है। अतः सम्पूर्ण जगत् मिथ्या या माया है।

(घ) प्रकाशात्मा ने माया का एक और लक्षण दिया है, जिसके अनुसार कुछ उपाधियों के रहते त्रैकालिक निषेध का जो प्रतियोगी है वह माया है- 'प्रतिपन्नौपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'। इसका तात्पर्य है कि माया निषेध का प्रतियोगी है और माया के कारण निषेध दूर होता है। किन्तु यह एक सापेक्ष कथन है। यह कथन एक मान्यता पर निर्भर है। वह मान्यता है कि ब्रह्म की कुछ उपाधियाँ है।

(ङ) चित्सुखाचार्य ने माया का लक्षण देते हुए कहा कि स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी है, वह मिथ्या या माया है 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'।

माया के इन पाँचों लक्षणों को मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। इनमें से एक महत्वपूर्ण प्रमाण इस प्रकार है, जिसे प्रायः सभी वेदान्तियों ने दिया है- जगत् मिथ्या है, क्योंकि वह दृश्य है। जो दृश्य है वह मिथ्या है जैसे- (रस्सी में) सर्प का अनुभव, यह जगत् वैसे ही है। अतः जगत् मिथ्या है। स्पष्ट है कि यह युक्ति दृश्यत्व और मिथ्यात्व को अभिन्न करती है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के पाँच लक्षण किये गये हैं और मिथ्यात्व एक पारिभाषिक शब्द हो गया है। वह असत् का पर्यायवाची न होकर वास्तव में माया का पर्यायवाची है। प्रो० पाण्डेय का मत है कि 'जगत् मिथ्या है' यह कथन इस बात को द्योतित नहीं करता है कि जगत् भ्रम है या जगत् असत् है अपितु इसका अर्थ निम्नलिखित है -

(क) ब्रह्म की अपेक्षा जगत् असत् है।

(ख) ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् का ज्ञान निवृत्त हो जाता है।

(ग) तर्कतः हम जगत् को न तो सत् कह सकते हैं, और न ही असत्। वह इनसे विलक्षण है।

(घ) जगत् की सत्ता त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है।

(ङ) जगत् की सत्ता स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है।

इन अर्थों के अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त में माया या मिथ्यात्व का कोई अन्य अर्थ नहीं हैं। यदि कोई अन्य अर्थ करता है तो वह 'अर्थान्तर कल्पना' नामक दोष का शिकार है।[२८]

शंकराचार्य ने जगत् का वर्णन करते हुए 'जन्माद्यस्य यतः'[२९] सूत्र के भाष्य में कहा है कि यह जगत नाम रूप में व्याकृत है, देशकाल निमित्त में प्रतिनियत है, अनेक कर्त्ता-भोक्ता से संयुक्त है, कर्म-फल का आश्रय है और इसकी रचना मन से अचिंत्य है।[३०] परन्तु इस जगत् की उत्पत्ति तत्वतः सिद्ध नहीं की जा सकती। इस विषय में गौडपाद कहते हैं -

"सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातस्तस्यहि जायते।।
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।।"[३१]

किसी वस्तु का जन्म सत् या असत् से तत्वतः नहीं हो सकता है। यदि सत् से उसका जन्म तत्वतः माना जाय तो आत्माश्रय तथा अनवस्था दोष होगा और यदि असत् से उसका जन्म तत्वतः माना जाय तो असंभावना नामक दोष होगा। इसलिए किसी वस्तु की उत्पत्ति तत्वतः नहीं होती। फिर भी हमें वस्तु की उत्पत्ति तत्वतः नहीं होती। फिर भी हमें वस्तु की उत्पत्ति दिखायी पड़ती है। इसलिए यह उत्पत्ति एक ऐसा तथ्य है जो सत् और असत् से विलक्षण है। यह प्रतीयमान है किन्तु सत्य नहीं है। इस कारण इसकी व्याख्या के लिए गौडपाद ने अजातिवाद या मायावाद को प्रस्तावित किया। सत् से माया द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति होती है। आगे चलकर शंकराचार्य ने केवल उत्पत्ति को ही नहीं अपतु समस्त विषयों को माया मात्र कहा क्योंकि ये

विषय अनुभव में आते हैं, परन्तु सत्य नहीं है। इस प्रकार मायावाद जगत् की व्याख्या है, विषयानुभव की व्याख्या है।

इस व्याख्या का सत्यापन प्रो० पाण्डेय ने तीन दृष्टियों से किया है- तात्विक दृष्टि, तार्किक दृष्टि और मूल्यात्मक दृष्टि।[३२]

(१) तात्विक दृष्टि

अद्वैतवाद में एक और अद्वितीय ब्रह्म ही सत् है। उससे भिन्न जो कुछ भी है वह मिथ्या है। इस प्रकार मायावाद तर्कतः ब्रह्मवाद से सिद्ध होता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि सर्वप्रथम ब्रह्म का अनुभव होता है, तदन्तर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। परन्तु अन्य लोग मानते हैं कि पहले जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है और तत्पश्चात् ब्रह्म का अनुभव होता है। विचारको की एक ऐसी भी धारा है जो ब्रह्मानुभव और जगत् मिथ्यात्व अनुभव दोनों को समकालिक मानते हैं। ये समस्त दृष्टियाँ ऋषियों की है जिन्हें 'एक' और 'अद्वितीय' ब्रह्म का साक्षात् एवं अपरोक्ष अनुभव होता है। ऐसी ही दृष्टियाँ वैदिक दार्शनिकों की भी है जो वेद प्रामाण्य के आधार ब्रह्म को सत् तथा जगत् को मिथ्या मानते हैं। अन्ततः यही दृष्टि उन तर्कशास्त्रियों की भी हो सकती है, जो ब्रह्म की परिभाषा से अपने दर्शन का उपक्रम करते हैं।

'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'- अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तुओं को सिद्ध किया जाता है। आचार्य शंकर का मत है सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन है, जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि बदलती नहीं, वह पदार्थ सत् है और जिसको विषय करने वाली बुद्धि बदलती है वह असत् है।[३३] पुनः शंकर मानते है - जिस पदार्थ का निश्चय जिस रूप में हो उससे व्यभिचरित न होना ही सत् का लक्षण है। इसके विपरीत जिस पदार्थ का जो स्वरूप निश्चित है उसमें यदि व्यभिचार उत्पन्न हो तो वह असत् है या अनृत है, जैसे विकारादि अनृत है।[३४] इसी को अन्यत्र शंकर कहते है जो पदार्थ एक रूप में निश्चित हो वही परमार्थ है।[३५] पुनश्च अनुभव से यह सिद्ध है कि सभी प्रकार का विषय ज्ञान व्यभिचरित है क्योंकि वह आता जाता रहता है। अतएव वह मिथ्या है। आत्मज्ञान समस्त विषयज्ञान का पूर्ववर्ती है क्योंकि सभी विषय

आत्मपूर्वक है। अतः आत्मज्ञान सत् है। इस प्रकार लक्षण और प्रमाण द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तथा साथ ही साथ सभी विषयों का मिथ्यात्व भी सिद्ध है।

(२) तार्किक दृष्टि

अद्वैत वेदान्तियों ने जगत् की तार्किक दृष्टि से व्याख्या करते हुए सिद्ध किया है कि जगत् न तो सत् है और न असत्। जगत् का निर्वचन तत्व या अतत्व शब्दों से नहीं हो सकता, अतः जगत् को अनिर्वचनीय कहा गया है। अनिर्वचनीय एक पारिभाषिक शब्द है। ब्रह्म को अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीय नहीं मानता अपितु ब्रह्म से भिन्न जो कुछ है, उसे अनिवर्चनीय कहता है। इस प्रकार वह माया को अनिर्वचनीय कहता है दूसरे शब्दों में अनिर्वचनीय का अर्थ सत् और असत् की कोटियों से भिन्नत्व है।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जगत् के जितने विषय हैं वे वास्तव में इस सत् (ब्रह्म) के विवर्त हैं। सद्रूप एवं सद्भिन्न से वे सभी (जगत के विषय) क्रमशः सत् और असत् हैं। इस कारण जगत को अनिर्वचनीय, मिथ्या या माया कहा गया है। सत् को भी 'तत्' सर्वनाम द्वारा संबोधित किया गया है। तत्पदार्थ का विवेचन करना जगत् की व्याख्या का लक्ष्य है। किम् तत्? वह क्या है? वह सत् है। सत्-सत् है। किन्तु यह सत् का तदर्थ है। इससे भिन्न सत् का किमर्थ है- किम तत्? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि तत् मेज है, लकड़ी है, सूखी वनस्पति है, पृथ्वी आदि के तन्मात्र है, कुछ परमाणु है, कुछ जड़ है आदि। किन्तु क्या वे सभी अर्थ तदर्थ हैं? वास्तव में ये सभी अर्थ आरोपित हैं और तदर्थ इनसे भिन्न है। तदर्थ हमारे प्रत्येक वाक्य या परमार्थ का उद्देश्य होता है और किमर्थ विधेय। इसी कारण सभी किमर्थ को मायिक कहा जाता है।

(३) मूल्यात्मक दृष्टि

मूल्यात्मक दृष्टिकोण से जगत् का उतना महत्व नहीं है, जितना आत्मा का है क्योंकि जगत् नश्वर है और आत्मा अनश्वर है। आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है 'आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। अनात्मा को कोई अनात्मा के लिए नहीं चाहता है। इस कारण जब

जगत् को मिथ्या कहा जाता है और आत्मा को सत् तो इसका अर्थ यह है कि आत्मचिंतन से परम लाभ है और जगत् के ऊपर चिंतन करने से कोई लाभ नहीं है। जगत् दुःखरूप है और आत्मा आनन्द रूप है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि कोई मायिक वस्तु साध्य नहीं है और आत्मा साक्षात्कार रूपी परम साध्य को प्राप्त करने का केवल एक साधन है जो साध्य की सिद्धि हो जाने पर निष्फल हो जाता है, व्यर्थ हो जाता हैं।[३६] यदि जगत् के ऊपर चिंतन करने से उसके अन्दर व्याप्त तत्पदार्थ का बोध हो तो जगत् को साधन माना जा सकता है। इस प्रकार मायावाद एक मूल्यसिद्धान्त है। यह हमें दुःख से आनन्द की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, और अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। माया का अर्थ निःसारत्व या असारत्व है और ब्रह्म का अर्थ सारसर्वस्व होता है।

पुनश्च माया के कुछ तटस्थ लक्षण हैं। जिनसे माया का बोध होता है। वे निम्नलिखित हैं-

नामरूपात्मिका माया

'नाम' और 'रूप' माया है और वे जिसके नाम-रूप हैं, वह सत् है। इसी को 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा जाता है। इसका वर्णन अनेक नामों और रूपों में होता है। नाम और रूप परिच्छेद है और ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। देश-काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण उसे 'अनन्तम्' कहा जाता है।

वस्तुतः व्यवहार के सभी विषयों का कोई नाम होता है और कोई रूप होता है। इन नाम-रूपों में जगत् का आभास होता है। इन नाम रूपों का विश्लेषण देश-काल निमित्त आदि द्वारा स्पष्ट किया जाता है। मायावाद स्पष्टीकरण की इन समस्त विधाओं को अंगीकार करता है और इनके आधार रूप में कारण-कार्य भाव को स्वीकार करता है। कार्य को वह कारण का संस्थान मात्र मानता है। इसीलिए वह कारण को सत् और कार्य को उसका विवर्त्त मात्र मानता है। कारण-कार्य की इस श्रृंखला में परमकारण ब्रह्म ही है जो अज, अज़र और अमर है तथा समस्त कार्य उसके संस्थान मात्र होने के कारण केवल विवर्त्त सिद्ध होते है। अतः मायावाद 'ब्रह्म विवर्त्तवाद' है।

त्रिगुणात्मिका माया

माया को सत्व, रजस् और तमस् से युक्त कहा गया है। शंकर के अनुसार त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।[३७] वह समस्त इंद्रियानुभविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इंद्रियों की रचना करती है। उसी से सोलह कार्य और सात कार्य-कारण उत्पन्न होते हैं।[३८] शंकर 'विवेक चूड़ामणि' में कहते हैं -

"रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा,

गुणास्तदीया प्रथितैः स्वकार्ये।"[३९]

अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् उसके (माया के) तीन गुण है और उन तीनों गुणों के अपने-अपने कार्य है। उन गुणों का निरूपण शंकर इस प्रकार करते हैं -

"विक्षेपशाक्ती रजसः क्रियात्मिका, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

रागादयोऽस्याः प्रभवन्तिनित्यं, दुःखादयो ये मनसो विकाराः।।"[४०]

अर्थात् क्रियारूप विक्षेपशक्ति रजोगुण की है, जिनसे सनातन काल से समस्त क्रियायें होती आयी हैं और जिससे रागदि और दुःखादि, जो मन के विकार है, सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

"एषावृतिर्नाम तमोगस्य, शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।

सैषा निदानं पुरूषस्य संसृते, विंक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः।।"[४१]

अर्थात् जिसके कारण वस्तु कुछ की कुछ प्रतीति होने लगती है वह तमोगुण की आवरण शक्ति है। यही पुरूष के संसार का आदिकारण है और यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी हेतु है।

"सत्वं विशुद्धं जलवत्तथापि, ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।।

यत्रात्मबिम्बः प्रतिविम्बितः सन्, प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम्"।।[४२]

अर्थात् सत्वगुण जल के समान शुद्ध है, तथापि रज् और तम् से मिलने पर वह भी पुरूष के संसार बंधन का कारण होता है, इसमें प्रतिविम्बित होकर आत्मबिम्व सूर्य के समान जड़ पदार्थो को प्रकाशित करता है।

यही तीनों गुण मिलकर माया का अव्यक्तरूप निर्धारित करते हैं क्योंकि इसका वर्णन न सत् कहकर किया जाता है और न असत् कहकर।[४३] श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'।[४४] अर्थात् ब्रह्म को महेश्वर और माया को प्रकृति समझना चाहिए। माया, सांख्य की प्रकृति के समान भौतिक और जड़ है, किन्तु सांख्य की प्रकृति के विपरीत न तो सत् है और न स्वतंत्र है। अद्वैत वेदान्त मानता है कि माया ब्रह्म की अध्यक्षता में सृष्टि करती है। वह ब्रह्म की अपरा प्रकृति है। मायावाद शक्ति परिणामवाद है। माया जगत् का उपादान कारण है।

माया ब्रह्म की शक्ति है

ऋग्वेद तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों की तरह शंकर माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति मानते हैं। अपनी अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के द्वारा ही वह विश्व की रचना करता है।[४५] यह शक्ति अद्यटनघटनापटीयसी है, अर्थात् जो नहीं है, उसको घटित करने में वह सक्षम है। इसी कारण इसको रहस्यमय, अचिन्त्य, विचित्र तथा अनिर्वचनीय कहा गया है। इस शक्ति के तीन रूप है - आवरण, विक्षेप और मल। आवरण शक्ति से माया तत्वज्ञान को ढ़क देती हे, विक्षेपशक्ति से वह जगत् का प्रदर्शन करती है और मल शक्ति से वह जगत् को दुःखमय बना देती है। फलतः जगत् अंधकार रूप, दृश्यत्व रूप और दुःखरूप है।

परन्तु माया को शक्ति मानने से अद्वैत वेदान्त को प्रायः गलत समझा जाता है क्योंकि शक्ति और शक्तिमत का सम्बन्ध वास्तविक है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए वेदान्तियों ने शक्ति को ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति न मानकर औपाधिक शक्ति माना है। शक्ति उपाधिकृत है। इस कारण वह ब्रह्म से सम्बन्धित न होते हुए भी सम्बन्धित सी दीख पड़ती है। मायावाद औपाधिक शक्तिवाद है। उपाधि का सम्प्रत्यय मायावाद का केन्द्र बिन्दु है। उसे जाने बिना मायावाद समझा नहीं जा सकता है।

उपाधि क्या है? महादेवानन्द सरस्वती 'अद्वैतचिन्ता कौस्तुभ' में कहते हैं कि "उपाधिर्नाम स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिणी स्वार्थमासंजकः", अर्थात् जब कोई पदार्थ अपने में विद्यमान गुणों की तरह उसका आरोप अपने सम्बन्धी में करता है तब उस पदार्थ को उपाधि कहते हैं। जैसे गुड़हल का फूल अपने में विद्यमान लाल रंग को अपनी ही तरह अपने सम्बन्ध स्फटिक में आरोपित कर देता है। इसलिए गुड़हल का फूल स्फटिक की उपाधि है। इसी प्रकार माया वास्तव में ब्रह्म की उपाधि है। वह अपने गुणों का आरोपण ब्रह्म में कर देती है। इसके फलस्वरूप ब्रह्म के दो रूप है-

(१) मायामुक्त ब्रह्म या निरूपाधिक ब्रह्म, और

(२) मायासहित ब्रह्म या सोपाधिक ब्रह्म

पुनश्च, उपाधि का संप्रत्यय विश्लेषण और शक्ति के संप्रत्यय से कुछ सादृश्य रहता है, परन्तु वह उनसे भिन्न है। विशेषण अपने विशेष्य का स्वाभाविक गुण होता है और शक्ति अपने शक्तिमान में निहित रहती है। किन्तु उपाधि अपने उपहित का न तो स्वाभाविक गुण है और न वह उसमें निहित ही है।

उपाधि-सम्बन्ध द्रव्य-गुण सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि गुण द्रव्य का विशेषण होता है और उपाधि विशेषण नहीं है। फिर उपाधि संसर्ग है किन्तु वह अनिवार्य संसर्ग नहीं है। ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध उपाधिभूत है। अर्थात् दोनों में संसर्ग है, किन्तु यह संसर्ग न तो स्वाभाविक है और न ही पारमार्थिक। ब्रह्म अलग होते हुए भी प्रकृति के संग है और प्रकृति परमार्थतः न होते हुए भी ब्रह्म के संसर्ग में है। यह संसर्ग सांख्य का पुरूष तथा प्रकृति का संयोग नहीं है क्योंकि यह आभासित संयोग है। यह संयोगवत् प्रतीत होता है लेकिन है नहीं। यह सब ब्रह्म की लीला है। लीलावाद मायावाद का विरोधी नहीं है अपितु यह मायावाद को सुदृढ़ ही करता है।[४६]

प्रो० पाण्डेय ने मायावाद को प्रत्ययवाद और यथार्थवाद दोनों से परे मानते हुए कहा है कि विषयता वास्तविक होते हुए भी पारमार्थिक नहीं है। पारमार्थिक रूप से वह औपाधिक है। फलतः उनका कोई स्वरूप तथा आकार नहीं है। उनका रूप यथार्थतः उस सत् का ही रूप है जो ब्रह्म है। पुनश्च विषयता को औपाधिक मानने के कारण मायावाद की दृष्टि को विषयनिष्ठ

दृष्टि नहीं समझना चाहिए क्योंकि अन्तःकरण जिसमें बुद्धि अहंकार, चित्त और मन आते है स्वयं एक उपाधि है। विषयी और विषय, अहम् और इदम् दोनो उपाधियाँ हैं। जो सत् है वह आत्मा है और वह न तो ज्ञान है और न ज्ञेय, न द्रष्टा है न दृश्य, न भोक्ता है और न भोग्य। इसलिए मायावाद आत्मवाद का निषेधात्मक वर्णन है।[४७]

पुनश्च, मायावाद भेदभाव का खंडन करता है तथा अभेद का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार आत्मा पूर्ण और सर्वव्यापी है। उससे भिन्न जो कुछ है वह माया या अनिर्वचनीय है। इसके अतिरिक्त मायावाद भेद-हेतु का भी खंडन करती है। प्रो० पांडेय का मत है कि सत्व, रजस् और तमस् अथवा नाम और रूप, काल और कर्म ये सभी भेद हेतु और भेद हेतु उपाधि है। अर्थात् ये परमार्थतः है ही नहीं। अतएव समस्त व्यष्टि या सभी व्यक्ति मायिक हैं। उनका अनुभव अविद्याजन्य है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर किसी भी व्यष्टि या व्यक्ति का ज्ञान नहीं होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तब समष्टि का ज्ञान होता है। वास्तव में समष्टि और व्यष्टि दोनों उपाधि है, दोनों के मूल में जो तत्व है वह सत् है। इस प्रकार मायावाद सभी विषयों, सभी विशेषों, सभी भेदों और सभी भेद-हेतुओं की अनिर्वचनीयता पर बल देता है। अर्थात् उनको मिथ्या कहता है।

यद्यपि जगत् का वैविध्य मिथ्या है तथापि वह वास्तविक है। वह अनिर्वचनीय होने के साथ-साथ वर्णनीय भी है। इस संबंध में प्रश्न उठता है कि उसके वर्णन का क्या सिद्धान्त है? इस सिद्धान्त को व्यक्ति-सिद्धांत या व्यक्तिकरण (Individuation) का सिद्धान्त[४८] कहा जाता है। इस सिद्धान्त की व्याख्या अद्वैत वेदान्तियों ने तीन प्रकार से की है। विवरण प्रस्थानवादी प्रतिविम्बवाद को, भामती प्रस्थानवादी अवच्छेदवाद को तथा वार्तिक प्रस्थानवादी आभासवाद को मानते हैं।[४९] विवरण प्रस्थान वादियों के अनुसार व्यक्तियाँ (जीव) ब्रह्म के प्रतिबिम्ब है। सभी विषय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं। अवच्छेदवाद के अनुसार समस्त व्यक्ति ब्रह्म के अवच्छेद है। जैसे आकाश के घटाकाश और गृहाकाश अवच्छेद है, परन्तु जैसे आकाश सर्वत्र अभिन्न और अविभाज्य है वैसे ब्रह्म भी सभी व्यक्तियों से अभिन्न और अविभाज्य हैं। आभासवाद के अनुसार समस्त व्यक्ति ब्रह्म के आभास है जैसे सूर्य के अनेक आभास प्रातःकाल से सायं काल तक देखे जाते

हैं। ब्रह्म और प्रपंच के संबंध की जो तत्वमीमांसात्मक समस्या है उसके समाधान के रूप में वे केवल उदाहरण मात्र है। अतः मायावाद प्रतिविम्बवाद, अवच्छेदवाद तथा आभासवाद को भी अपर्याप्त समझता है। इतना होने के बावजूद ये सभी वाद अन्य वादों की अपेक्षा मायावाद के अधिक अनुकूल हैं।

अनन्यता प्रस्थान के अन्तर्गत माया

प्रो० पाण्डेय ने अपने अनन्यता प्रस्थान के अन्तर्गत माया की समस्या को अज्ञान की समस्या या अविद्यालेश की समस्या से जोड़ा है।[६०] अज्ञान की समस्या का निराकरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि अज्ञान को समझने के लिए 'अ' अर्थात् नकार को समझना आवश्यक है। इस प्रसंग में उन्होंने नागोजी भट्ट के छह प्रकार के नकार (सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता, अप्राशत्य (कुत्सा) और विरोध) प्रयोग के स्थान पर आठ प्रकार के नकार प्रकार बतायें हैं- जो अल्पता, सादृश्यता, अभाव, निन्दनीयता, भिन्नता, विरोध, प्रशंसनीयता और मात्रात्मक रूप से अगण्यता है।[६१] अविद्यालेश का संप्रत्यय अज्ञान की समस्या हल करने में सहायक है। अविद्यालेश जीव की दृष्टि में ज्ञान के अनन्य है जैसे ज्ञान जगत् की प्रागपेक्षा है वैसे ही वह अज्ञान की प्रागपेक्षा है। ईश्वर की दृष्टि में अविद्यालेश शक्ति है जिसके द्वारा ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। अन्त में ब्रह्म की दृष्टि में अविद्यालेश तुच्छ है अर्थात् बिल्कुल मिथ्या है।[६२] प्रो० पाण्डेय मानव ज्ञान को ही अपने दर्शन का विषय मानते है और कहते हैं कि ईश्वर के द्वारा प्राप्त ज्ञान या ब्रह्म के द्वारा प्राप्त ज्ञान की चर्चा करना दर्शन का विषय न होकर शुद्ध रहस्यवाद है जिस पर मौन रहना ही उचित है। इस प्रकार उन्होंने मायावाद को अविद्यालेश से जोड़कर अनन्यता प्रस्थान की दृष्टि से मायावाद की व्याख्या की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त में अविद्या अथवा माया को मानकर भी ब्रह्म को ही एकमात्र परमसत् के रूप में स्वीकार किया गया है। इस परमसत की स्थापना के लिए अद्वैतवेदान्तियों ने केवल श्रद्धा, भावना एवं श्रुति को ही आधार नहीं बनाया वरन् अपनी तर्कशक्ति के सहारे भी वहीं पहुँचने का प्रयास करते हैं। माया को स्वीकार करके अद्वैतवेदान्ती

यह भी सिद्ध करना चाहते है कि यह इन्द्रियगोचर विश्व सत् नहीं है, किन्तु आकाश-कुसुम की भाँति असत् भी नहीं है। यह विश्व सत् एवं असत् से भिन्न एक तीसरी कोटि है। अतः इसकी व्यावहारिक सत्ता है। अद्वैतवेदान्ती अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए हैं।

(घ) आहार्यज्ञान का सिद्धान्त

आहार्यज्ञानवाद प्रो० संगम लाल पाण्डेय के चिंतन श्रृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस सिद्धान्त को उन्होंने अद्वैतवादी पृष्ठभूमि पर खड़ा करने का प्रयास किया है। उनकी मान्यता है कि अद्वैतज्ञान या अद्वयज्ञान सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन या संदर्शन है, जो समस्त भेद-ज्ञान या द्वैतज्ञान की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहता है। भेदज्ञान में उसका आवर्तन विवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में भेद ज्ञान अभेद ज्ञान से व्याप्त है तथा भेद या द्वैत अभेदमूलक है। गौड़पादाचार्य का मत है- "अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते"[५३] अर्थात् अद्वैत पारमार्थक है और द्वैत उसका भेद या प्रकार है। इस दृष्टि से अद्वैत दर्शन सभी प्रकार के द्वैत दर्शन से अविरूद्ध है, क्योंकि उनके अन्तर्विरोधों का निराकरण करने वाला अद्वैत सिद्धान्त है।

समस्त विषय ज्ञान अध्यास नहीं हैं। कुछ विषय ज्ञान ऐच्छिक है, जबकि अध्यास ज्ञान अनैच्छिक या नैसर्गिक है। ऐसे ऐच्छिक ज्ञान को आहार्यज्ञान[५४] कहा जाता है। उदाहरणार्थ- ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर भक्ति ज्ञान संभव है या नहीं ? इसका उत्तर है कि भक्तिज्ञान आहार्यज्ञान है, जो कर्त्ता की इच्छा से किसी प्रयोजन के लिए किया जाता है। अतएव वह अध्यास नहीं है, मिथ्या नहीं है, वरन् उसका मूल्य है। किन्तु उससे अद्वैतवाद को क्षति नहीं पहुँचती है क्योंकि वह समग्र रूप में प्रकल्पित या अभ्युपगमित है।

आहार्यज्ञान के संदर्भ में न्यायमत तथा सांख्यमत में भी विचार किया गया है। न्यायमत के अनुसार आहार्य ज्ञान एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है और सांख्य मत के अनुसार आहार्यज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति से व्याप्य ज्ञान है। न्यायमत वास्तव में तात्विक विरोधाभास का ज्ञान है। जब हम जलाशय को अग्निमान देखते है अथवा अग्निरहित पर्वत को अग्निमान समझते है तो इस ज्ञान को न्यायमत में आहार्य ज्ञान कहा जाता है। यह वास्तव में संभावना का ज्ञान है, किसी

वस्तु की जितनी संभावनायें रहती है, वे सभी कभी यथार्थ नहीं होती है और उन संभावनाओं में से कुछ ऐसी संभावनायें रहती है जो परस्पर विरूद्ध होती है। जैसे जलाशय में अग्नि रहती है किन्तु वह प्रकट और व्यक्त नहीं है। इन्हीं आधारों पर न्याय ने आहार्यज्ञान की कल्पना की है। वेदान्त मत के अनुसार आहार्यज्ञान का यह अर्थ नहीं है क्योंकि वह दो विरोधी धर्म के सहअस्तित्व का ज्ञान नहीं है। न्याय मत की अपेक्षा सांख्य मत का आहार्यज्ञान वेदान्त मत के निकट है क्योंकि वह अन्तःकरण की वृत्ति व्याप्यता को आहार्यज्ञान का आहार्यज्ञान मानता है।[५५] किन्तु वेदान्त मत सांख्य मत से भी भिन्न है, क्योंकि वह केवल अखण्डवृत्ति की व्याप्यता को आहार्यज्ञान मानता है और खण्डवृत्ति की व्याप्यता को अध्यास कहता है। ईश्वर का ज्ञान या शब्दतत्व का ज्ञान (शब्दब्रह्म का ज्ञान) इच्छाजन्य है और अखण्डवृत्ति का बोधक है। इस कारण उसे आहार्यज्ञान कहा जाता है। यह वास्तव में आत्मा का अपना ही स्व प्रकाश ज्ञान है।

प्रो० पाण्डेय ने आहार्यज्ञान का निरूपण करते हुए कहा है कि आहार्यज्ञान अध्यास से भिन्न है क्योंकि आहार्यज्ञान ऐच्छिक भावनामूलक और सुखद है। अध्यास ऐच्छिक नहीं है किन्तु आहार्यज्ञान ऐच्छिक है। उदाहरण के लिए, जब हम चन्द्रमा को सुन्दर कहते हैं तो हम अपनी इच्छा से उसे सुन्दर रूप में प्रकल्पित करते हैं। परन्तु जब हम 'इदं रजतम्' का अनुभव करते हैं तब यह अनुभव हमारी इच्छा से जन्य नहीं होता है। तुलसीदास जी ने लिखा है-

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।।"

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की जैसी भावना होती है, जैसे उसके श्रद्धा और विश्वास होते है वैसे ही वह ईश्वर को देखता है और उसके गुणों का विचार करता है। भले ही वे गुण ईश्वर में न हो किन्तु मनुष्य अपनी भावनाओं से उन गुणों को जोड़ता है और उन गुणों पर ध्यान करने से उसके चरित्र का निर्माण होता है तथा उसकी बुद्धि निर्मल होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जेसे बुद्धि वाह्य इंन्द्रियों से भिन्न है, वैसे ही भावना बुद्धि से भिन्न है। भावना से अध्यात्म का ज्ञान होता है और उसका ज्ञान बाह्य इंद्रिय और बुद्धि से नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में भावना आध्यात्मिक इंद्रिय है। भावना को उसी प्रकार युक्ति-युक्त होना चाहिए जैसे बुद्धि को,

किन्तु इतना साम्य होने पर भी भावना बुद्धि से भिन्न है क्योंकि भावना आत्मा और विषय दोनों को एक साथ प्रकाशित करती है तथा प्रत्येक विषय के ज्ञान को आत्म ज्ञान से व्याप्त अध्यास मानते हैं। जबकि बुद्धि विषय ज्ञान की ओर इतनी झुकी रहती है कि वह आत्म ज्ञान को अनदेखा कर देती है। भावना के लिए विषय आभास है, जबकि बुद्धि के लिए विषय वस्तु सत् है। भगवद्गीता में कहा गया है -

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्।।"[९६]

अर्थात् जो अयुक्त है उसकी बुद्धि ठीक नहीं है, जो अयुक्त है उसकी भावना भी ठीक नहीं है। जो भावना से रहित है उसे शांति नहीं मिल सकती और जो अशांत है उसे सुख नहीं मिल सकता है।

स्पष्ट है कि भावना बुद्धि से परे है तथा भावना के मुख्य विषय शांति और सुख है। भावना से आत्मबोध है। सभी प्रकार का भावाद्वैत उसी का परिणाम है। उसकी जड़ श्रद्धा में है, श्रद्धा के बिना तत् या सत् का ज्ञान ही हो सकता। इसलिए छांदोग्य उपनिषद में 'तत्वमसि' का उपदेश देते हुए आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेत केतु से कहा कि वह बरगद के बीज के किये गये उस अत्यन्त छोटे टुकड़े को श्रद्धा से समझे, जिस के बिना न बरगद का बीज हो सकता है, न बरगद का पेड़।[९७] शास्त्रीय भाषा में ज्ञान की इस विधि को 'अरुन्धती न्याय' कहा जाता है जिसके द्वारा स्थूल से आरम्भ करके अत्यन्त सूक्ष्मतम तत्त्व का विवेचन किया जाता है। बौद्धिक व्यापार द्वारा इस विधि के दो रूप हो जाते हैं - पृष्ठगतिक और अग्रगतिक। प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने पृष्ठगतिक विधि का प्रयोग करते हुए दिखलाया है कि आत्मा सभी विषयों की प्रागप्रेक्षा है। प्रो० पाण्डेय ने प्रो० मुकर्जी के मत की पुष्टि हेतु अग्रगतिक विधि का प्रयोग करते हुए कहा है कि सभी विषयों में आत्मज्ञान का आहार्यज्ञान द्वारा आवर्तन होता है। आत्मा स्वेच्छा से द्वैत की प्राकल्पना करती है और ऐसी परिभाषा तथा प्राक्कल्पना बनाती है जिसके बल पर बुद्धि निगमन द्वारा ज्ञान की वृद्धि करती है। इस प्रकार प्राक्कल्पना मूलक निगमन प्रणाली आहार्यज्ञान मूलक है।[९८]

आत्मा (ज्ञान) और अनात्मा (ज्ञेय) का भेद, भक्त और भगवान के भेद की ही भाँति प्रकल्पित है। प्रकल्पित भेद से अभिप्राय यह है कि जो विषय आत्मा से भिन्न हैं, वह स्वतः अभिधेय तथा स्वतः सत् नहीं है। पदार्थ का लक्षण अभिधेयता और ज्ञेयता है। यहाँ न्याय दर्शन में अद्वैत वेदान्त के प्रति यह आपत्ति उठायी गयी है कि भेद के रहते अभेद संभव नहीं है। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए प्रो० पाण्डेय ने कहा कि - जब भेद को कल्पित मान लेने से अर्थात भेद को बौद्धिक विषय या आभास (Phenomena) मान लेने से भेद व्यवहार की व्याख्या हो जाती है तो फिर भेद को वास्तविक मानने में 'कल्पना-गौरव' नामक दोष होता है। विपरीततः भेद को कल्पित मान लेने से 'कल्पना लाघव दोष होता है।[५९] यहाँ कल्पना लाघव का तात्पर्य न्यूनतम प्रागपेक्षा को ग्रहण करना है। वैज्ञानिक दृष्टि में इसे सरलता कहा जाता है, जो उत्तम प्राक्कल्पनाओं का वैशिष्ट्य है, अर्थात जटिल प्राक्कल्पनाओं की अपेक्षा सरल प्राक्कल्पना अधिक उपयुक्त होती है। प्रो० पाण्डेय ने इसी नियम का प्रयोग करते हुए कहा है कि भेद को वास्तविक मानना अत्यन्त जटिल प्राक्कल्पना है और भेद को केवल बौद्धिक व्यवहारोपयोगी मानना अथवा कल्पित मानना सरलतम प्राक्कल्पना है। उनके मत से कल्पित का अर्थ स्वप्न, भ्रम या मिथ्या नहीं है क्योंकि जो कल्पित है वह व्यवहारोपयोगी हो सकता है तथा विविध प्रमाणों और प्रमेयों से तर्कतः जुड़ा हुआ है। इस प्रकार विषयगत होने पर भी वह आत्मपूर्वक है, जिसका तात्पर्य है कि वह आत्मा से अनन्य है तथा आत्मा और विषय के मध्य कोई खाई नहीं है।[६०]

अद्वैत वेदान्त द्विविध तर्कमूल्यों के स्थान पर त्रिविध या अनेकविध तर्कमूल्यों को मानता है। अतः आत्म ज्ञान और अध्यास (अविद्या) ज्ञान के मध्य विभिन्न प्रकार के ज्ञान हैं, जो अध्यास से भिन्न और आत्मज्ञान के ज्ञापक हैं। वे सभी आहार्यज्ञान के उदाहरण हैं। आहार्यज्ञान में यह बोध निहित रहता है कि उसके विषय का अस्तित्व आत्मा का ही अस्तित्व है। प्रो० पाण्डेय आत्मा के इस अनुभव को 'इति-इति' कहते हैं[६१] जो नेति-नेति की पूरक प्रक्रिया है। जब आहार्यज्ञान के विषय के अस्तित्व को हम आत्मा से वस्तुतः भिन्न कर लेते हैं तो हम आहार्यज्ञान को वस्तुतः अध्यास बना देते हैं। अतः उसके वास्तविक अस्तित्व को नकारना 'नेति-नेति' को

दोहराना और 'इति-इति' को दोहराना आहार्यज्ञान को अध्यास से भिन्न करने के लिए आवश्यक है। आहार्यज्ञान के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को अत्यन्त उत्तम ढंग से जानती है और अपने सर्ववृत्ति की व्यापकता को समझती है। अतएव आत्मा के स्वरूप को जानने वाला ही आहार्यज्ञान का सफल प्रयोग कर सकता है। आहार्यज्ञान बताता है कि आत्मा अनिवार्यतः विभु है। आत्मा के बिना आहार्यज्ञान सम्भव नहीं है। आत्म ज्ञान और आहार्यज्ञान का अबिनाभाव वैसे ही है जैसे अध्यास और आत्मा का अविनाभाव है। इस अर्थ में आहार्यज्ञान अध्यास के समान है, परन्तु आहार्यज्ञान न केवल आत्मपूर्वक अपितु आत्मा के विशेष ज्ञान या अशेष ज्ञान का उपकारक भी है और वह आत्म ज्ञान का सतत् अभ्यास है। आहार्यज्ञान को आत्मा के स्वरूपज्ञान से अशेषतः समझते हुए आत्मज्ञानी के लिए आहार्यज्ञान की द्वैतापत्ति इष्ट है, अनिष्ट नहीं क्योंकि आहरित द्वैत वृत्ति आत्मज्ञान से व्याप्य है और वह फलव्याप्य नहीं है। अर्थात द्वैत या भेद पृथकत्व नहीं है। अपितु जल तरंगवत विविक्त है। द्वैत कल्पित है तथा आत्मा वहिर्भूत नहीं है फिर भी वह वांछनीय या प्रकाम्य है। इस प्रकार कल्पित भेद के आधार पर की गयी द्वैतापत्ति सत्तामूलक द्वैत नहीं है। सत्ता तो केवल आत्मा की ही है।

प्रो० पाण्डेय ने आहार्यज्ञान का अनुप्रयोग भक्ति एवं विज्ञान दोनों क्षेत्रों में किया है। इस प्रसंग में उनका कहना है कि- आहार्यज्ञान के आधार पर ब्रह्मज्ञानी भी भगवान की अहैतुकी-भक्ति करते हैं और उसके लिए भेद की इच्छा पूर्वक कल्पना करते हैं। उनकी भक्ति का लक्ष्य ज्ञान है- 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'। इस ऐच्छिक ज्ञान से ज्ञानी अपना पूर्ण अभेद ब्रह्म से स्थापित करता है। अतः यहाँ जो भेद कल्पित किया गया है वह मिथ्या नहीं है अपितु साक्षात् आनन्द की अनुभूति है। जैसे अद्वय ज्ञान को ब्रह्म कहा गया है वैसे उसे ऋतम् और ऋत्-चित् कहा गया है और रसो वै सः के अनुसार उसे रस स्वरूप माना गया है। अतः जो अद्वयज्ञान है वहीं ऋत्-चित् है और रस विशेष अथवा पराभक्ति है। इसी भक्तिभावित ज्ञान को प्राचीन अद्वैतवादियों ने आहार्यज्ञान कहा है। जैसा कि 'त्रिपुरा सुन्दरी रहस्य' ग्रन्थ में कहा गया है -

''यतशुभकतेरतिशय प्रीत्या कैतव वर्जनात्,

स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वद्धयं पदम्,

विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्त तत्परैः।।''[६२]

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी विभेद का आहरण करके कैतव रहित परमभक्ति करते हैं। वास्तव में यह आहार्यज्ञान का काव्यमय वर्णन है। इस वर्णन का तात्पर्य भेद न होकर अभेद है। जब हम रूपक द्वारा अभेद को मूर्तिमान कर देते हैं तो वह सर्वगुण सम्पन्न भगवान हो जाता है। इसी लिए भागवत पुराण ईश्वर को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान कहता है, उसी को तत्त्वविद् अद्वयज्ञान कहते हैं -

''वदन्ति तत् तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्यते।।''[६३]

कतिपय अद्वैतवादियों ने आहार्यज्ञान का निरूपण करते हुए माना है कि अध्यास दो प्रकार का होता है- भ्रान्ति और आहार्य। आहार्यज्ञान सदोष अध्यास नहीं है। जैसे शालिग्राम में विष्णु का निवास मानना आहार्यज्ञान है। यह अध्यास तो है किन्तु दोष नहीं है क्योंकि यह भक्ति की इच्छा से जन्य ज्ञान है। भक्ति की इच्छा वास्तव में आत्मा की सदिच्छा है जो भगवान अथवा भेद-ज्ञान से अपने को प्रकाशित करती है। इस प्रसंग में प्रो० पाण्डेय तुलसीदास तथा निर्मला संत गुलाब सिंह को आहार्यज्ञान पूर्वक रामभक्त बताते हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ रामचरित मानस और मोक्ष पंथ प्रकाश में आहार्यज्ञान का सुन्दर निरूपण किया है। तुलसीदास जी कहते हैं -

''सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन।

नाम सुप्रेम पियूष हृद तिन्हहुँ किए मन मीन।।''[६४]

यहाँ तुलसीदास ने विभेद का आहरण करके नाम भक्ति का सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार निर्मला संत गुलाब सिंह ने कहा है -

''ताके है अब दोय प्रकार। दोषज एक आहार्य अधार।।

प्रथमो हइये भ्रांति स्वरूप। द्वितीय मानस क्रिया अनूप।।

शुक्ति रजत भ्रांति उन आनो। भेद भान यामों नहिं मानों।।

भेद ग्रहण दूसर मो होई। इच्छाकार उपजावे सोई।।"[६६]

इस प्रकार नाम में भगवत् तत्त्व का साक्षात्कार करना शालिग्राम को विष्णु समझना आदि गुलाब सिंह के मतानुसार आहार्यज्ञान है। प्रो० पाण्डेय ने इसी संत परम्परा को अद्वैत मतानुसारी मानते हुए आहार्यज्ञान को अध्यास से भिन्न किया है और उनके मतानुसार अध्यास जब इच्छापूर्वक होता है तब वह दोष नहीं है। अतः यह मानना गलत है कि अध्यास सदैव सदोष और त्याज्य है।

पुनश्च, प्रो० पाण्डेय ने आहार्यज्ञान का प्रयोग विज्ञान क्षेत्र में भी किया है। उनके अनुसार- 'अद्वैत परमार्थो हि द्वैतं विज्ञान हेतवे'। जहाँ प्राचीन वेदान्त में द्वैत को 'भजन हेतवे' कहा गया था वहाँ प्रो० पाण्डेय वेदान्त को 'विज्ञान हेतवे' कहते हैं। जैसे भजन के लिए द्वैत होता है, वैसे विज्ञान के लिए भी द्वैत है। दोनों प्रकार के द्वैत आत्मा के वहिर्भूत नहीं हैं। क्योंकि वे आत्मा से अनन्य है। विज्ञान से वैसे ही अद्वैत का अनुभव होता है जैसे भजन से क्योंकि विज्ञान मनन है, जो एक प्रकार का भजन ही है। ज्ञान विज्ञान से ही आत्म बोध स्पष्ट होता है।

प्रत्येक विज्ञान का आरम्भ ऐच्छिक परिभाषाओं से होता है जिसके आधार पर मनुष्य कुछ स्वयंसिद्धियों का ज्ञान प्राप्त करता है। फिर वह इन परिभाषाओं और स्वयं सिद्धियों से अपनी बुद्धि द्वारा कुछ निगमन करता है जिन्हें वह प्रमेय मानता है। इस प्रकार प्रत्येक विज्ञान में ऐच्छिक परिभाषायें, स्वयं सिद्धियाँ, निगमन और प्रमेय होते हैं। इन्हें जानने के लिए ज्यामिति का उदाहरण लिया जा सकता है।

प्राकृतिकं विज्ञानों का आरम्भ प्राकल्पनाओं से होता है जिन्हें वैज्ञानिक अपने विषय की व्याख्या के लिए स्वेच्छा से निर्मित करता है। ये प्राकल्पनाएँ सर्वव्यापी प्रमाण वाक्य के रूप में स्वीकार की जाती हैं। जैसे सभी विषयों को पृथ्वी अपनी ओर आकर्षित करती है, फिर उससे निगमन निकाले जाते हैं और अनेक प्रमेय सिद्ध किये जाते हैं। विज्ञान दर्शन में इस प्रणाली को निगमन की प्रणाली कहा जाता है। प्रो० पाण्डेय के विचार से सभी विज्ञानों की प्रणाली

प्राक्कल्पना मूलक निगमन है। निगमन बौद्धिक व्यापार है और प्राक्कल्पना की संरचना ऐच्छिक व्यवहार है। इस प्रकार इच्छा और बुद्धि दोनों के समन्वय से प्राक्कल्पना मूलक निगमन विधि संभव होती है। प्राचीन अद्वैत वेदान्त में ज्ञान (चित) और आनन्द के द्वारा बुद्धि तथा इच्छा का क्रमशः वर्णन किया गया था। प्रो० पाण्डेय ने चित् और आनन्द को समवित या चेतना के दो फलन कहा है और दोनों को इच्छा का प्रकट रूप कहा है।[६६]

अन्त में हम प्रो० पाण्डेय के शब्दों में कह सकते हैं- कि आहार्यज्ञान सदिच्छा से किया गया तद् से अभिन्न विमर्श है। चूँकि तद् स्वप्रकाश चित् है अतः उसका सदिच्छाकृत विमर्श उसकी कला बन जाता है अर्थात वह अंशतः सत् को ही प्रकाशित करता है। आहार्यज्ञान अध्यास से भिन्न है क्योंकि अध्यास मिथ्या है और आहार्यज्ञान स्वरूपतः सत्य है। ब्रह्म जिज्ञासा में अथवा त्त्व की जिज्ञासा में आत्मा की निजी स्पृहा वृत्ति रूप में विद्यमान रहती है और बिना स्पृहा के जिज्ञासा संभव नहीं है। जिज्ञासा जानने की इच्छा है, यदि जानना और इच्छा करने में द्वैत है तो जिज्ञासा संभव नहीं हो सकती -

> "आहार्यज्ञानमिति तद्भिन्नः सदिच्छा विमर्शः।
> मिथ्याध्यासात् पृथगिति विमर्श स्वरूपस्य सत्यम्।।
> जिज्ञासायां प्रभवति सदा स्वस्पृहाजन्य वृत्तिः।
> ज्ञानेच्छैक्यं प्रमथयति वेदान्त विद्याऽपि चेत्थम्।।[६७]

(च) स्फोटवाद से अद्वैतवाद का अविरोध

अर्थविज्ञान के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने जिन अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रवर्तन या विश्लेषण या खण्डन किया, उनमें से स्फोटवाद सर्वप्रमुख है। पद या वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे होती है, यह प्रायः सभी शास्त्रों का विचारणीय विषय रहा है, पर इस सम्बन्ध में वैयाकरणों ने स्फोट के सिद्धान्त का प्रवर्तन कर एक प्रकार से अर्थविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। यद्यपि स्फोट को माननो वालों की अपेक्षा उसका खण्डन करने वालों की संख्या अधिक है, फिर भी स्फोट सिद्धान्त का जो वैचारिक महत्व है उसको नकारा

नहीं जा सकता। स्फोट सिद्धान्त का विधिवत् प्रतिपादन भर्तृहरि ने किया किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसकी चर्चा की है।

स्फोटवाद का ही दूसरा नाम शब्दाद्वैतवाद या प्रणयवाद है। इसके अनुसार शब्द ही विश्व का कारण है। भगवती श्रुति कहती है- ''वागेन विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च'' अर्थात वाणी से ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए और वाणी से ही मर्त्य तथा अमर्त्य सबकी उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भूः, भुवः, स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से ही पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है।[६८] मनुस्मृति में कहा गया है कि महेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में पदार्थ के नाम, रूप आदि की रचना वेद के शब्दों से ही की थी।[६९] स्वयं भू ने सृष्टि के आरम्भ में अनादिनिधन, नित्य, सनातन वेद वाणी को प्रकट किया जिससे कि मनुष्य के सारे व्यवहार चल सकें। इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति के द्वारा शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन होता है। पाणिनि ने भी ''तद्शिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'' इस सूत्र में शब्द व्यवहार को अनादि एवं सनातन माना है। कात्यायन के वार्तिक ''सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'' में शब्दाद्वैतवाद का संकेत हैं। 'स्फोट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में हुआ है, परन्तु भर्तृहरि ही सर्वप्रथम विचारक थे जिन्होंने शब्दाद्वैतवाद या स्फोटवाद को एक शास्त्रीय रूप प्रदान किया। 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ के ब्रह्मकाण्ड में वे कहते हैं कि अक्षर अविनाशी, अनादि, निधन, सर्वव्यापक शब्द तत्व ही विवर्त द्वारा अनेकविध पदार्थों के रूप में प्रकट होता है जिससे कि जगत के सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं।[७०] भर्तृहरि के पश्चात् भर्तृमित्र ने अपने 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ में वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की सिद्धि के द्वक्षरा शब्दाद्वैतवाद का समर्थन किया है। आगे चलकर व्यासदेव, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु तथा नागेशभट्ट आदि आचार्यों ने स्फोटवाद के स्पष्टीकरण एवं विशदीकरण में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है।

'स्फुटति व्यक्तीभवति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अथवा 'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णोरिति स्फोटः', इन दो व्युत्पत्तियों के अनुसार जिससे अर्थ स्फुटित होता है अथवा जिससे वर्ण अभिव्यंग्य होकर अर्थ प्रतीति का जनक होता है उसे स्फोट कहते हैं। शब्द तीन प्रकार का है- वर्ण, ध्वनि एवं पद। ये भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य है। 'वर्ण' वागिन्द्रिय का ही विषय

है वागिन्द्रिय से पद गृहीत नहीं होता। 'अ' कारादि शब्द वर्ण कहे जाते हैं। उर, कण्ठ आदि स्थानों से वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे प्रकार का ध्वन्यात्मक शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। ध्वनि (नाद) के वर्ण तथा अवर्ण दो रूप हैं। शब्द का तीसरा भेद बुद्धिग्राह्य है, अर्थात वर्णों के एकत्व की संयोजना करने वाली बुद्धि पद को ग्रहण करती है। कहने का तात्पर्य यह है, 'गोः' इत्यादि शब्द से होने वाले अर्थज्ञान के समय बुद्धि 'ग', 'ओ' तथा विसर्ग (:) के क्रम से प्रत्येक वर्ण को ग्रहण करके पीछे से 'गो' यह एक पद है', इस प्रकार वर्णों के एकत्व का आपादान करती है, जिससे अर्थावबोध (सास्नादि विशिष्ट गो व्यक्ति का ज्ञान) होता है।[91]

व्याकरण मत के अनुसार परावाक् व्यवहारोन्मुख होने पर पश्यन्ती वाक् कहलाती है। अक्षर और शब्द ब्रह्म इसी के नामान्तर हैं। यह चैतन्य स्वरूप है। यह अखण्ड अद्वय परमतत्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी नहीं है इसीलिए इसे अक्रमा या प्रतिसंहृत क्रमा के नाम से पुकारा जाता है। पश्यन्ती वाक् ही ब्रह्मार्थ वासना के प्रभाव से घट, पद आदि पदार्थों के रूप में विवर्तभाव को प्राप्त होकर इन्द्रियगोचर बनती है। वस्तुतस्तु वाचक शब्द से पृथग्भूत वाच्य अर्थ की सत्ता है ही नहीं।[92] वाच्यवाचक विभाग पारमार्थिक नहीं, अपितु काल्पनिक है। परंन्तु काल्पनिक या अविद्याजन्य होने पर भी ज्ञान के उपाय के रूप में इसका ग्रहण करना ही पड़ता है। ज्ञानमात्र ही वागात्मक है, अतः परावाक् या शब्दब्रह्म ही परमार्थ तत्व है। अतएव व्याकरण मत में शब्दब्रह्म को ही परमार्थ तत्व माना गया है तथा जगत् के समस्त पदार्थों को शब्द ब्रह्म का ही विवर्त स्वीकार किया गया है। शब्द ब्रह्म को निराकार, देशकालादि परिच्छेद से शून्य अक्रम एवं अनवच्छिन्न माना गया है। यही वैयाकरणों का स्फोटरूप अद्वैततत्त्व है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरणभाष्य में शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है। वे शब्द से सृष्ट्युत्पत्ति के सिद्धान्त को समीचीन नहीं मानते। उन्होंने स्फोटवाद का खण्डन करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि शब्द से संसार की उत्पत्ति का सिद्धान्त माननीय नहीं है। वे कहते हैं कि वर्णों से ही अर्थ प्रतीति के संभव होने से वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना अनर्थक है।[93]

वर्ण उत्पत्ति विनाशशील नहीं है, क्योंकि वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञान अनुभवसिद्ध है। इस प्रत्यभिज्ञान को ज्वालादि के समान सादृश्यमूलक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका प्रमाणान्तर से बाध अनुपपन्न है। इस प्रत्यभिज्ञान को आकृति विषयक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ वर्ण व्यक्ति का ही प्रत्यभिज्ञानहोता है, आकृति का नहीं। अतएव वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञान को व्यक्ति विषयक ही मानना होगा, आकृति विषयक नहीं। यहाँ पर यह शंका होती है कि देवदत्त और यज्ञदत्त की ध्वनियों के श्रवणमात्र से वर्णगत भेद की प्रतीत होती है, अतः अनुभव सिद्ध वर्ण भेद को क्यों न माना जाय ? इस शंका के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि वर्णगत वैचित्र्य का कारण वर्णगत स्वरूप भेद न होकर वर्णाभिव्यंजक कारण में भेद ही है।[७४] एक ही वर्ण अभिव्यंजक कारण के भेद से नाना रूपों में उपलब्ध होता है। जैसे एक ही वर्ण अभिव्यंजक निमित्त के भेद से उदान्त, अनुदान्त, स्वरित इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनाई पड़ता है। अतएव वर्णों को उत्पत्ति विनाशशील एवं अनित्य नहीं माना जा सकता। इसलिए अर्थावबोध के निमित्त वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। इस पर स्फोटवाद की ओर से यह कहा जा सकता है कि वर्णों को नित्य मानने पर भी एकैकवर्णग्रहणोत्तर कालीन पदगत एकत्वबुद्धि के ग्रहण के लिए स्फोट की कल्पना करनी ही पड़ेगी, अन्यथा 'गो' इस पद में एकत्वबुद्धि की व्याख्या कैसे की जा सकेगी ? इस आक्षेप के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि यह एकत्व समस्त वर्णविषयक ही है अर्थान्तरविषयक (स्फोट विषयक) नहीं।[७५] क्योंकि इस बुद्धि में भी गकारादि वर्णों की ही अनुवृत्ति होती है, अन्य की नहीं। यदि 'गो' इस बुद्धि का विषय गकारादि से भिन्न होता तो दकारादि के समान गकारादि की भी इससे व्यावृत्ति होती। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः यह मानना होगा कि यह एकत्व बुद्धि (पद बुद्धि) वर्ण समुदाय विषयक ही है, अर्थान्तर विषयक (स्फोट विषयक) नहीं। इसी प्रकार जब स्फोटवादी दृष्ट वर्णों का ही अर्थ बोधकत्व शक्ति नहीं मानते तो अदृष्ट स्फोट की कल्पना करना उचित नहीं है।[७६] इस प्रकार शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण भाष्य में प्रबल युक्तियों के आधार पर स्फोटवाद का खण्डन करते हुए शब्दाद्वैतवाद की अप्रमाणिकता को प्रदर्शित किया है।

(छ) अद्वैत मुक्तिवाद का सामाजिक विनियोग

भारतीय दर्शन मूल्यों का दर्शन है। मूल्य को भारतीय दर्शन की शब्दावली में पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ चार हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थ से तात्पर्य सांसारिक ऐश्वर्य से है। काम से तात्पर्य सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति से है। अर्थ इसका साधन है। धर्म से तात्पर्य नैतिक मूल्यों से अर्थात नैतिकता मात्र से है। मोक्ष से तात्पर्य आध्यात्मिक मूल्य से है। मोक्ष या मुक्ति केवल साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य तो सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा जीवन मरण के चक्र से मुक्ति पाना है।

अद्वैत वेदान्त ने मुक्ति के सम्बन्ध में जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है वे निम्न लिखित हैं-

(१) मुक्ति जीवन्मुक्ति है या विदेह मुक्ति ?

(२) मुक्ति क्रम मुक्ति है या सद्योमुक्ति ?

(३) मुक्ति एक मुक्ति है या सर्वमुक्ति ?

(४) मुक्ति कर्मसाध्य है या ज्ञान साध्य ?

इन प्रश्नों का समाज-दार्शनिक महत्व है। जीवन्मुक्ति, क्रममुक्ति, सर्वमुक्ति और कर्मसाध्य मुक्ति का पक्ष लेने वाले अद्वैतवादी मुक्ति को लोक-कल्याण से अनिवार्यतः संलग्न करते है और विदेहमुक्ति, एकमुक्ति, सद्योमुक्ति और ज्ञानसाध्य मुक्ति का विवेचन करने वाले मुक्ति को लोक-कल्याण से विलग करते हैं। पुनश्च, अन्त में कुछ ऐसे भी अद्वैतवादी हैं जो इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय करते हुए मानते हैं कि लोक-कल्याण और मुक्ति भिन्न स्तरीय मूल्य होने के कारण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। लोक-कल्याण के माध्यम से मुक्ति मिल सकती है और मुक्ति पाने वाले भी लोक-कल्याण कर सकते हैं। किन्तु वास्तव में मुक्ति के सामाजिक विनियोग से सम्बन्धित जो प्रश्न है, वह यह नहीं है कि क्या कल्याण करने वाला पुरुष मुक्ति प्राप्त कर सकता है ? अपितु यह है कि क्या मुक्त पुरुष लोक-कल्याण करता है ? और यदि

वह करता है तो क्या मुक्ति से लोक-कल्याण के कर्म अनिवार्यतः संलग्न है ? अथवा क्या मुक्ति सामाजिक आदर्श हैं ?

अद्वैतवादी दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि ज्ञानोत्तर कर्म और ज्ञानोत्तर भक्ति असम्भव है तथा मुक्त आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का अस्तित्व असम्भव है। इसलिए मुक्त पुरुष के लिए समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जो कर्म और भावनाएँ समाज की बुनियाद हैं, उनका कोई अस्तित्व नहीं है और पुरुषों की अनेकता जो समाज के लिए अनिवार्य है, असम्भव है। अतः अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से मुक्ति के साथ समाज का विरोध परिलक्षित होता है इस संदर्भ में प्रो० पाण्डेय का कहना है कि वास्तव में मुक्त पुरुष न तो व्यष्टि है और न ही समष्टि है। आधुनिक शब्दावली में उसे हम न तो व्यक्ति कह सकते हैं और न ही समाज। एक दृष्टि से वह दोनों से परे है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि परस्पर सापेक्ष और अध्यस्त-रूप हैं जबकि मुक्त पुरुष निरपेक्ष और निरध्यस्त है। पुनश्च, दूसरी दृष्टि से व्यष्टि के मूल में सत् है वही समष्टि के मूल मे सत् है और वही मुक्त पुरुष है। इस दृष्टिकोण से मुक्ति व्यक्ति और समाज दोनों की स्वरूप प्राप्ति है। यदि व्यक्ति के लिए उसका कोई महत्व है तो समाज के लिए भी उसका उतना ही महत्व है। अतः यदि मुक्ति का कोई वैयक्तिक विनियोग है तो फिर उसका सामाजिक विनियोग भी उसी से सिद्ध है।[७७]

सामाजिक प्रयोजन का सिद्धान्त

मुक्ति का सिद्धान्त वर्तमान जीवन से सम्बन्धित है। इस जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इसका अपना सामाजिक प्रयोजन होता है। सामाजिक प्रयोजन का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं-

ऋत् - सामाजिक जीवन का आधार एक नैतिक नियम है जिसे ऋत् कहा जाता है। ऋत् की अवधारण में विश्वास वैदिक धर्म एवं दर्शन की उल्लेखनीय विशेषता है।[७८] इसमें विशाल मानवता के कर्तव्यों एवं अनुशासनों का गम्भीरता पूर्वक निरूपण किया गया है। यह ऋत् सन्मार्ग है, सदाचार का पथ है। वह श्रुति, स्मृति, परम्परा आदि से समर्थित कर्तव्य मार्ग है। 'सत्यमेव

जयते' वह सिद्धान्त है जो इस ऋत् को सर्वोपरि नियम के रूप में सिद्ध करता है। समाज के समस्त आदर्श इसी ऋत् से निःसृत होते हैं और प्रमाणिकता प्राप्त करते हैं। यह ऋत् आत्मा का स्वभाव है। ऋत् वस्तुओं का सारतत्त्व है, उनकी यथार्थता (सत्य) है। सत्पुरुष लोग ऋत् के मार्ग का अनुसरण करते हैं। ऋत् के मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के जीवन-व्यवहार को 'व्रतानि' कहा जाता है। यह समस्त लोक को धारण करता है, इसलिए इसे धर्म भी कहा जाता है। मुक्त पुरुष को इस ऋत् का पूर्ण ज्ञान रहता है। वह साक्षात् ऋत् रूप या धर्मरूप है। इसलिए लोक के समस्त मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं और उसको आदर्श मानकर जीवन बिताने का प्रयास करते हैं। वास्तव में ऋत् एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है जो किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय या जाति के लिए न होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए है। इसीलिए वैदिक धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है।

प्रियम् - सामाजिक प्रयोजन का दूसरा तत्त्व प्रियम् या आनन्द है। प्रो० पाण्डेय ने 'आनन्द को परम तत्त्व' मानते हुए कहा है -

'आनन्दः परमं तत्वंमतात्विकमथेतरत्।
आनन्दस्तत्वमस्तित्वं ज्ञानं चानन्दभातता।।'[७९]

उपनिषदों में भी कहा गया है- आनन्द ब्रह्म है।[८०] अस्ति, भाति और प्रियम् ब्रह्म के रूप है। सत् चित् और आनन्द क्रमशः उन्हीं के पयार्य है। प्रियम् या आनन्द उन समस्त मूल्यों का पूंजीभूत रूप है, जिन्हें आजकल सामाजिक मूल्य कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त इस प्रियम् को भूमानन्द कहता है और बतलाता है कि मुक्ति ब्रह्मभाव है, भूमानन्द की प्राप्ति है। चित्सुखाचार्य का कथन है कि आनन्दमयका साक्षात्कार ही मुक्ति है।[८१] इस सिद्धान्त का प्रयोग करके ही सामाजिक आनन्द या हित या कल्याण का विधान किया जाता है। उपनिषद की मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य को जो थोड़ा बहुत आनन्द मिलता है, वह एक निरपेक्ष आनन्दराशि का बिन्दु मात्र है। समस्त लोक इसी आनन्द राशि से आप्लावित है।

स्वाराज्य – सामाजिक प्रयोजन का तीसरा तत्व स्वाराज्य है। ईश्वर लाभ या आत्मलाभ का ही नाम स्वाराज्य है। व्यक्ति के लिए अपनी आत्मा में आत्मा को स्थिर करना, भूतप्रपंच से अपना ध्यान हटाकर आत्मा पर सतत् ध्यान करना सच्चा स्वास्थ्य है या स्वाराज्य है क्योंकि इस अवस्था में 'स्व' या आत्मा अपने में स्थिर रहती है। (स्वास्थ्य) या अपने पर राज्य करती है (स्वाराज्य) समाज के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना, अपनी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन अपने यहाँ करना, अपना शासन अपने हाथों करना, सच्ची सत्यता, स्वस्थता स्वाराज्य है। व्यक्ति और समाज दोनों का इस प्रकार एक ही लक्ष्य है- स्वाराज्य। यह सत्य प्राप्ति है।

अद्वैत ने उपनिषदों के समय से ही स्वाराज्य के आदर्श को रखा है। अद्वैत की मुक्ति 'स्वाराज्य-प्राप्ति' है। प्राचीन काल में भाष्यकारों ने स्वाराज्य का अर्थ व्यक्तिपरक किया था और उसका अर्थ केवल यह लगाया था कि मनुष्य को आत्म संयमी तथा आत्मनिष्ठ होना चाहिए, परन्तु आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, विनोबाभावे, श्रीअरविन्द आदि ने उपनिषदों में वर्णित स्वाराज्य के आदर्श का विनियोग समाज के क्षेत्र में किया और सिद्ध किया कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वाराज्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। यहाँ उल्लेखनीय है कि १८वीं शताब्दी के अद्वैत आचार्य गंगाधरेन्द्र सरस्वती ने 'स्वराज्य सिद्धि' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें यद्यपि मुक्ति का विवेचन है तथापि वह मुक्ति सामाजिक मुक्ति का पर्याय बन गयी।[८२] यद्यपि गंगाधरेन्द्र सरस्वती के भी पूर्व गोस्वामी तुलसीदास जी ने आदर्श राज्य के रूप में रामराज्य की कल्पना की और रामराज्य का लक्षण करते हुए कहा कि –

'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज्य काहुहि नहिं व्यापा।'

तुलसीदास और उन्हीं के आधार पर महात्मा गांधी ने जिस रामराज्य की कल्पना की वह दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों से रहित समाज के मुक्ति की कल्पना है। वास्तव में इस विचार का मूल मुक्ति की वह कल्पना है, जो सांख्य शास्त्र से आरम्भ हुई और जिसका पूर्ण विकास अद्वैत-वेदान्त में हुआ। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से समाज को मुक्त करना सच्चा स्वाराज्य है और वही राम राज्य है। यही अद्वैत की मुक्ति का वास्तविक रहस्य है।

जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है -'आत्मानं आत्मनैव उद्धरेत' अर्थात समाज को अपना कल्याण स्वयं करना चाहिए, उसे आत्मनिर्भर होना चाहिए। जब तक उसका यह आदर्श प्राप्त न हो जाय तब तक उसे प्रयत्न करते रहना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने 'उत्तिष्ठ, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत्' मंत्र के द्वारा भारत को जगाया, अपने पैरों पर खड़ा किया, उसके अंदर स्वाभिमान भरा और स्वाराज्य एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। राजनैतिक स्वतंत्रता और रामराज्य स्वंय मुक्ति नहीं है, किन्तु इनको प्राप्त करने वाला पुरुष सहजता से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। पुनश्च राजनीतिक कार्यकर्ता तथा समाजसेवक मुक्ति का विनियोग राजनीति और समाज व्यवस्था में सफलता पूर्वक कर सकते हैं।

समता - आधुनिक युग में सामाजिक प्रयोजन का एक प्रमुख तत्त्व समता है। समता सिद्धान्त मनुष्य-मनुष्य में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के क्षेत्र में विभेद नहीं करता है। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि समता सिद्धान्त वास्तव में अद्वैत का सामाजिक विनियोग है।[८३] जब अद्वैत ने कहा कि आत्मा एक और अद्वितीय है और वह सजातीय विजातीय और स्वगत भेदों से मुक्त है तो उसने समता का एक तत्ववाद स्थापित किया था। भगवद्गीता ने इस तत्त्ववाद के आधार पर 'आत्मौपम्य का सिद्धान्त' प्रस्तावित किया जो नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है और जिसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है - 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' दूसरों का जो व्यवहार अपने प्रतिकूल हो, उसे हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए। इसी के आधार पर औचित्य या परोपकार या करुणा के तत्त्व निःसृत हुए। फिर पुराणों ने इससे भी आगे जाकर भक्ति का सिद्धान्त दिया। सन्तों ने ईश्वरीय शासन की कल्पना की और उस शासन में किसी भी प्रकार के भेद, जैसे जाति-भेद, धर्म-भेद आदि को स्थान नहीं दिया। गोस्वामी तुलसीदास ने इस भेद-रहित, वर्ग-रहित समाज को रामराज्य की विशेषता बतलाते हुए कहा है-

'दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचन्द्र के राज।।'[८४]

इस प्रकार मुक्ति सिद्धान्त के आधार पर ही भारतवर्ष में समता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। मुक्तिमूलक समता भारतीय समाजवाद की एक उत्कृष्ट देन है। प्रो० पाण्डेय का मानना है कि इसी के आधार पर गांधीजी ने मार्क्स के साम्यवाद की आलोचना की और कहा कि ईशावास्योपनिषद के प्रथम मन्त्र[८५] में जिस समाजवाद की व्याख्या की गयी है वैसी व्यवस्था मार्क्स के 'दास कैपिटल' ग्रन्थ में भी नहीं है।

जहाँ मुक्ति ईश्वर प्राप्ति है वहाँ भी उसका विरोध सामाजिक कल्याण से नहीं हो सकता है। पुनश्च, मुक्ति का अर्थ जहाँ स्वरूप-प्राप्ति है और सभी मनुष्य स्वरूपतः एक ही है वहाँ भी मुक्ति का विरोध समाजवाद से कैसे हो सकता है ? यह मुक्तिवाद समाजवाद को भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है और कहता है कि मनुष्यों को आर्थिक दृष्टि से बराबर करना साधारणतया शोषण-मुक्ति है। इस शोषण-मुक्ति के अनन्तर और इससे अधिक गंभीर मुक्ति है जिसमें मनुष्य को अपना स्वाराज्य प्राप्त होता है।

स्वतंत्रता - स्वतन्त्रता सामाजिक प्रयोजन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। पाश्चात्य मनीषियों के अनुसार मानव स्वतन्त्रता दो प्रकार की है - निवृत्ति रूप और प्राप्ति रूप। उदाहरण के लिए भूख से निवृत्ति भी स्वतन्त्रता है और कला-मर्मज्ञता प्राप्त करना भी स्वतन्त्रता है। इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता का समावेश अद्वैत की मुक्ति में हो जाता है। जब कहा जाता है कि मुक्ति नित्य की प्राप्ति है तो उसके प्राप्ति पक्ष पर बल दिया जाता है और जब कहा जाता है कि मुक्ति नित्य निवृत्त की निवृत्ति है तो उसके निवृत्ति पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है। जिस प्रकार समाज-दर्शन में निवृत्ति-रूप स्वतन्त्रता का क्रन्तिकारी विनियोग हुआ है, उसी प्रकार अद्वैत ने भी निवृत्ति रूप मुक्ति का क्रान्तिकारी विनियोग किया है। मुक्त पुरुष से प्रेरणा मिलती है कि हम उन सभी दुर्व्यवस्थाओं को दूर करें जो मनुष्य और समाज के लिए बन्धन हैं और उन समस्त मूल्यों को प्राप्त करें जो सत्यं, शिवं, सुन्दरं, शान्तं और पावनम् है।

अद्वैत वेदान्त की मुक्ति का भारतीय समाज पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि आज तक इससे उच्चतर कोई दूसरा आदर्श सुलभ नहीं हो सका है। इस सिद्धान्त ने भारत की एकता को अक्षुण्ण रखा है। इसी के प्रभाव में आकर डा० मुहम्मद इकबाल ने गाया था -

"कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जहाँ हमारा।।"[८६]

भारत की हस्ती अगर अमिट है तो उसका एक मात्र कारण अद्वैतवाद और उसकी मुक्ति कल्पना है। जिन लोगों ने इस मुक्ति को प्राप्त किया है उन्होंने भारतवासियों के हृदय में अपना अमिट स्थान बना लिया है और उनके आदर्श को लेकर आज भी भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक लोग जी रहे हैं। जिन्होंने इस आदर्श को समझा है, उन्होंने सनातन धर्म, स्मार्तमत तथा लोकहित का समर्थन किया है। इससे सिद्ध होता है कि अद्वैत वेदान्त की मुक्ति का सामाजिक विनियोग उपनिषद काल से लेकर आज तक हो रहा है। यही इसका प्रमुख वैशिष्ट्य है।

अद्वैतवाद के सामाजिक दर्शन में कर्म और ज्ञान का समन्वय दो प्रकार से भिन्न है- पहला, ज्ञान और कर्म का क्रम समुच्चय है जिसका प्रतिपादन भगवद्गीता में किया गया है। दूसरा, कर्म और ज्ञान का सहसमुच्चय है जिसका प्रतिपादन मंडन मिश्र की 'ब्रह्म सिद्धि' में तथा कबीर, रैदास आदि सन्तों की वाणियों में मिलता है। आधुनिक वेदान्ती स्वामी भजनानन्द ठीक ही कहते हैं- "सांसारिक कार्य करते हुए भी आत्मा में स्थिर रहें जैसे कि लट्टू सेण्टर के आधार पर घूमता रहता है। इसी प्रकार ज्ञानवान अपने आप में मस्त होकर अपनी जगह पर स्थिर रहता हुआ भी सर्वत्र ज्ञान दृष्टि रखता है और लट्टू की तरह आत्मा सेण्टर में ही मन से स्थिर रहता हुआ शरीर या वृत्ति से घूमता रहता है। लट्टू पूर्ण वेग से चक्कर काटता हुआ खड़ा ही दीखता है, इसी प्रकार ज्ञानी संसार के सभी कर्म करता हुआ अपने आप में स्वयं स्थित रहता है।"

इसी को अद्वैत वेदान्त में संयोग पृथक्त्व न्याय कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य को ज्ञानवान होना चाहिए और कर्मों को करते हुए अनासक्त या निर्लिप्त रहना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य की जीविका होनी चाहिए और उसे कर्तव्य बुद्धि से अपनी जीविका के कार्य करते हुए उससे निर्लेप रहना चाहिए, ऐसी प्रो० पाण्डेय की मान्यता है।[८७] कबीर, दादू, दयाल, रैदास आदि संतों ने अपनी जीविका के कर्तव्यों का पालन करते हुए आत्मानन्द के दिव्य लोक में विचरण

करते रहे हैं। इस प्रकार कर्म करना बन्धनकारी नहीं है, अपितु लोक संग्रह और लोक मंगल करने वाला है और उसके द्वारा मोक्ष का उपकारक है।

(ज) विज्ञान दर्शन और अद्वैतवाद

अद्वैत को सामान्यतया मनस् का दर्शन (Philosophy of mind) समझा जाता है और इसकी दार्शनिक पद्धति को विषयिनिष्ठ ज्ञान या आत्मनिष्ठ विश्लेषण की विधि के रूप में लिया जाता है। अद्वैत ज्ञानमीमांसा को वस्तुनिष्ठ ज्ञान के विपरीत माना जाता है। वेदान्त दर्शन के एक आधुनिक व्याख्याकार[८८] कहते हैं कि वेदान्त का उद्देश्य मनुष्य को आत्म-विश्लेषण द्वारा परमसत् की ओर ले जाना है। अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि वेदान्त एक ऐसा दर्शन है जो धर्म से बना है। यद्यपि सभी धर्म आत्मसाक्षात्कार को पवित्र मानते हैं परन्तु वेदान्त आत्मानुभूति को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करता है। इस रूप में यह आस्था का विषय होता है।[८९] तीसरी विचारधारा के लोगों की मान्यता है कि अद्वैत दर्शन मुख्यतया मानव-दर्शन है जिसमें मनुष्य को विश्व के सभी विचारों का केन्द्र-बिन्दु माना गया है।[९०]

यदि हम वेदों, उपनिषदों या शंकर और उनके परवर्ती उत्तराधिकारियों की कृतियों का अनुशीलन करते हैं तो पाते हैं कि अद्वैत न केवल मनस् का दर्शन है अपितु वस्तुनिष्ठ या विषयपरक जगत् का दर्शन है। अद्वैत प्रारंभिक रूप से विज्ञान का दर्शन है और द्वितीयक रूप से धर्म का दर्शन है। यह धर्म केवल विचारशील जीवन पद्धति है। इस विचार से प्रमुख विज्ञान दार्शनिक जैसे-प्लेटो, अरस्तू, देकार्त, स्पिनोजा, न्यूटन, काण्ट और आइंस्टीन आदि पूर्णतया सहमत हैं। अब हम शंकर एवं उनके अनुयायियों के विचारों के संदर्भ में अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में विवेचन करेंगे।

प्रो० टी० एम० पी० महादेवन[९१] ने अद्वैत और पाश्चात्य दर्शन के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए विज्ञान दर्शन के विचार को अस्वीकार किया जो कि दर्शन को विशेषकर तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को पुनर्स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। उन्होंने विज्ञान दर्शन को शायद इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि वर्तमान समय तक किसी भी व्याख्याकार ने विज्ञान

दर्शन की व्याख्या नहीं की थी। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत और वेदान्त विज्ञान-दर्शन के उतने ही नजदीक हैं, जितने कि वेद विज्ञान के नजदीक है।[६२] ऋग्वेद सृष्टि की स्तुति विज्ञान दर्शन के लिए शाश्वत प्रेरणा स्रोत है।

अद्वैत विज्ञान दर्शन के रूप में

अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कई आधार हैं। प्रथमतः, अद्वैतवादी वेदों और उपनिषदों के सीधे उत्तराधिकारी थे, जिन्होंने भारत में विज्ञान सम्मत विचारों की शुरुआत की। द्वितीयतः, सभी भारतीय दार्शनिक अत्यधिक सचेष्ट दार्शनिक थे जिन्होंने दर्शन का इतिहास और विज्ञान दर्शन को सुरक्षित रखा और विज्ञान के इतिहासवेत्ता अपने समय के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के ऊपर विशिष्ट निर्णय देने के लिए बाध्य थे। तृतीयतः, वे अग्रवर्ती भारतीय वैज्ञानिक दार्शनिकों जैसे- कपिल, कणाद, चरक, नागार्जुन और भर्तृहरि की भाँति वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण करने के लिए प्रयत्नशील थे और उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि सृष्टि के संदर्भ में उनके दर्शन में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। अंततः उनकी तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा या विशेषकर दार्शनिक पद्धति यह प्रदर्शित करती है कि उनका दर्शन अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में विज्ञान दर्शन है।

अद्वैत तत्त्वमीमांसा

अद्वैत तत्त्वमीमांसा सृष्टि के प्रथम मौलिक सिद्धान्त 'तत्व' को उद्घाटित करती है। अद्वैत वेदान्त इसी तत्त्व का ज्ञान है। अद्वैत न तो मनोविज्ञान है और न ही सृष्टिविज्ञान अपितु यह इन दोनों विज्ञानों का आलोचनात्मक परीक्षण है। यह आत्मा या ब्रह्म, पुरुष या सत् का परिणाम है जो कि न तो आत्मपरक है और न ही विषयपरक। परमतत्व जो कि जगत् की सभी वस्तुओं का मूल कारण है। इसे 'तत्' और 'मै' (अहं) द्वारा अनुभूत किया जाता है। 'तत्' के सम्बन्ध में कई वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें से चार्वाक, सांख्य, वैशेषिक, जैन और बौद्ध के मौलिक सिद्धान्तों का शंकर परीक्षण करते हैं। उनके विचार से कपिल, कणाद आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों में अन्तः व्याघात है। इन दर्शनों के प्रतिपादक अपने सिद्धान्तों में अनुरक्त

होने के कारण अपने प्रतिपक्षी को देखकर द्वेष करते हैं और विरोध मानते हैं किन्तु अद्वैत वेदान्त उनको अपना ही अंग मानता है और उससे विरोध नहीं करता।[६३] शंकर का मत है कि सांख्य-वैशेषिक सृष्टि में गति के नियम की तार्किक व्याख्या नहीं कर सके। परमाणुओं में प्रारम्भिक गति उत्पन्न नहीं हो सकती। जब दो परमाणु मिलकर एक द्वयणुक बनता है तो इस कार्य को उत्पन्न करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिए। गति का कारण प्रयत्न या अभिघात होता है।[६४] सांख्य के प्रकृति परिणाम सिद्धान्त और वैशेषिक के परमाणु सिद्धान्त को भी उन्होंने ब्रह्मसिद्धान्त की भाँति परिष्कृत किया। वेदान्त दर्शन में परमसत् दीर्घ से दीर्घतम (महतोमहीयान्) और लघु से लघुतम (अणोरणीयान्) है। यहाँ महतोमहीयान् प्रकृति का और अणोरणीयान् परमाणु का द्योतक है। यह स्थापित करता है कि समग्रता या समष्टि की पहचान और व्यष्टि की पहचान परस्पर एक दूसरे से अनन्य है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शंकर स्पष्टतया कहते हैं कि- सृष्टि का मूलकारण या मूलाप्रकृति ब्रह्म ही है और इसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।[६५] यहाँ शंकर 'प्रकृति' शब्द को सांख्य की प्रकृति से भिन्न अर्थ में स्वीकार करते हैं। शंकर ने प्रकृति को सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों माना है जबकि सांख्य प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण ही मानता है। इस प्रकार यहाँ शंकर सांख्य की प्रकृति सिद्धान्त में पर्याप्त कारण या निमित्त कारण को जोड़ते हैं। बौद्धों के विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए शंकर ने कहा है कि विज्ञानवादियों का विज्ञान के बाहर किसी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व न मानना तर्क संगत नहीं है। वास्तव में अपने अंदर चेतना में वस्तु की अनुभूति के अतिरिक्त वस्तु की बाह्य जगत में स्वतंत्र सत्त होती है, ऐसी शंकर की मान्यता है।

जहाँ तक अद्वैत में विज्ञान दर्शन के महत्व का प्रश्न है, परम्परागत रूप से ब्रह्म की दो परिभाषायें स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण क्रमशः अद्वैत तत्वमीमांसा और अद्वैत विज्ञान दर्शन की विषयवस्तु है। अद्वैत तत्वमीमांसा और अद्वैत विज्ञान दर्शन साम्यानुमानिक रूप से एक दूसरे से अन्तःसम्बन्धित है। आगे जब अद्वैतवादी कहते हैं कि- जीव, ईश्वर, ब्रह्म जीवेश्वर का भेद, अविद्या और अविद्या तथा चैतन्य का सम्बन्ध अनादि है[६६] तो वे अपने विज्ञान दर्शन की मान्यता

के रूप में व्याख्या करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह मान्यता अद्वैत तत्वमीमांसा की मान्यता नहीं है। अतः स्पष्ट है कि अद्वैत विज्ञानदर्शन और अद्वैत तत्वमीमांसा को परस्पर एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। इन्हें एक दूसरे से पृथक करके समझा नहीं जा सकता है।

अद्वैत ज्ञानमीमांसा

अद्वैत को विज्ञान दर्शन मानने के लिए दूसरा आधार ज्ञानमीमांसा है। शंकराचार्य का कहना है कि ज्ञान प्रमाणजन्य है। प्रमाण यथाभूत वस्तुविषयक होता है, अतः ज्ञान कारक, अकारक या अन्यथा कारक नहीं होता। वह वस्तुतन्त्र होता है।[९७] शंकर की ज्ञानमीमांसा वस्तुवादी है। ब्रह्म ज्ञान बुद्धि पर निर्भर नहीं है अपितु वस्तु पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म ज्ञान वस्तुतंत्र है क्योंकि वह भूत वस्तु-विषयक है, न कि बुद्धितंत्र।[९८] तात्पर्य यह है कि वस्तु के अनुकूल ज्ञान होने पर ही वस्तु का ज्ञान कहलायेगा। यदि वस्तु विद्यमान हो और उसे प्रकाशित करने वाला प्रमाण भी हो तो ज्ञान अवश्य होगा।

अद्वैत के अनुसार ज्ञान यद्यपि मानस है तथापि वह मानसी क्रिया नहीं है। ज्ञान मन नहीं है, वह मन का गुण या विकार नहीं है। स्वयं मन ज्ञान पर आधारित है और ज्ञान मन पर आधारित नहीं है। वे ज्ञान को सामान्य मानव ज्ञान या सामान्य अनुभव के अर्थ में लेते हैं इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह विशिष्ट या रहस्यवादी अनुभव है।[९९] अद्वैत ज्ञानमीमांसा की दार्शनिक यात्रा सामान्य अनुभव के विचारों के विश्लेषण से शुरू होती है तत्पश्चात यह परम सत् के वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों का परीक्षण करती है। सिद्धान्तों या विचारों के खण्डन तथा मण्डन की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि सतय को पूर्ण रूप से समझ नहीं लिया जाता है वास्तव में ब्रह्म ज्ञान का अवसान अपरोक्ष अनुभव में होता है।[१००] ज्ञान ब्रह्म को इदंतया विषय नहीं बनाता, वह ब्रह्म को अविषय बनाते हुए अविद्या कल्पित ज्ञातृ-ज्ञेय भेद की निवृत्ति से अपरोक्षानुभूतिगम्य प्रतिपादित करता है।[१०१] अद्वैत दर्शन में जानने की पद्धति 'अध्यारोप और अपवाद है।'[१०२] इस प्रणाली का विकास शंकराचार्य द्वारा 'पंचीकरणम्' ग्रन्थ में किया गया है जो कि अद्वैत विज्ञान दर्शन तक जाने का लघु मार्ग है। आधुनिक विज्ञान दर्शन में इसे परिकल्पना

एवं विशिष्ट मूल्यांकन की विधि के रूप में जाना जाता है। प्रो० कार्ल आर० पापर ने वेदान्त की शब्दावली में इसे 'अनुमान और प्रत्याख्यान' (Conjectures and refutation) की विधि[103] कहा है। इस विधि के अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त अनुमान है और दोनों ही विचार सत्य और मिथ्या युक्त हैं। वैज्ञानिकों ने इसका प्रत्याख्यान करने के लिए बहुत गम्भीर प्रयास किया है कि क्या इसमें सत्यता की मात्रा अत्यधिक है या नहीं है। यदि सत्यता की मात्रा अत्यधिक पायी जाती है तो कालक्रम से यह स्वीकार है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार खण्डन या प्रत्याख्यान की मध्यवर्ती प्रक्रिया द्वारा अनुमान से अनुमानों तक वैज्ञानिक ज्ञान का विकास हुआ है। इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञान की यह प्रणाली अद्वैत की अध्यारोप और अपवाद प्रणाली की ही व्याख्या है। अब हम वेदान्त प्रणाली का वैज्ञानिक खोज एवं मूल्यांकन के संदर्भ में अधिक विस्तार से विमर्श करेंगे।

अध्यारोप मानव की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो कि प्रेक्षण द्वारा विचारों को स्थापित करती है। प्रेक्षण अध्यारोप के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि अध्यारोप प्रेक्षण का पूर्ववर्ती है। शंकर इसे 'अध्यास' कहते हैं तथा इसे अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप, कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा सर्वलोक प्रत्यक्ष मानते हैं। अध्यास की अवस्था में दो वस्तुओं के बीच एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्ध हो जाता है कि वस्तु के धर्म दूसरी वस्तु में और दूसरी वस्तु के धर्म प्रथम वस्तु में दिखायी देते हैं। जैसे तप्त लौह पिण्ड[104] में अध्यास की प्रकल्पना। शंकर अध्यास का कारण 'अविवेक' और 'मिथ्याज्ञान' निमित्तक मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान मिथ्याज्ञान के निवर्तक होने के अतिरिक्त ज्ञापक भी है।[105] ज्ञापकत्व ही ज्ञान का लक्षण है, इसी को शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों ने स्वप्रकाश कहा है। प्रत्येक मनुष्य के लिए सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान का मूल्यांकन करना स्वाभाविक है। यदि विचार विश्लेषण में असत्य की मात्रा सत्य से अधिक है तो उसे हम अस्वीकार करते हैं और दूसरे विचार को स्वीकार करते हैं जिसमें पिछले विचार की अपेक्षा सत्य की मात्रा अधिक होती है। विचारों की यह अस्वीकृति 'अपवाद' के रूप में जानी जाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है- खण्डन का विचार। सत्यता की मात्रा के आधार पर विचारों को सत्य या असत्य मानने का अर्थ यह नहीं है जिस मत में सत्यांश कम है वह निरर्थक है। अद्वैत

वेदान्तियों ने विज्ञान दार्शनिकों की भाँति अपने दर्शन में अन्य के विचारों को महत्व दिये हैं। उदाहरण के लिए शंकर ने वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य को प्राथमिकता दिया है, और उनके कुछ अनुयायी शाक्तमत को शैवमत की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि मधुसूदन सरस्वती ने कारणता के सभी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक एवं संतोषजनक व्याख्या तीन स्तरों में किया है- जिनमें से निम्न स्तर पर 'आरम्भवाद', मध्यवर्ती स्तर पर 'परिणामवाद', और उच्चतम स्तर पर 'विवर्तवाद' है।[106] उनका यह त्रिस्तरीय पैमाना सृष्टि के सभी वैज्ञानिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए तथा परवर्ती अद्वैतियों के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के मूल्यांकन के लिए अत्यन्त उपयोगी मापदण्ड सिद्ध हुआ है। परन्तु इस मूल्यांकन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त का केवल एक तदर्थ चरित्र होता है न कि अंतिम या अतीन्द्रियसत्य। इस प्रकार अद्वैत वैज्ञानिक दृष्टि और अतीन्द्रिय दृष्टि में अंतर करता है। अद्वैत दर्शन दोनों दृष्टियों को संकलित करता है परन्तु वैज्ञानिक विचार के बिना अतीन्द्रिय विचार का अनुमोदन, विमर्श या मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक दृष्टि अतीन्द्रिय का ज्ञान साधक हेतु है, जबकि अतीन्द्रिय दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि का सत्ता साधक हेतु है। इस प्रकार अद्वैत विज्ञान दर्शन वैज्ञानिक खोज को आंतरिक शक्ति प्रदान करता है तथा इसके लिए जिज्ञासा का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिज्ञासा ही ज्ञान पथ की ओर हमें अग्रसर करती है। वास्तव में ज्ञान स्वयं के लिए है, यह स्वयं में एक अन्त है और कोई चीज उतनी पवित्र नहीं है जितना कि ज्ञान। गीता की दृष्टि में 'ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है'।[107]

यहाँ प्रो० पाण्डेय का कहना है कि यदि अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में न लिया जाय तो इसकी पुरातन मनन विधि अर्थहीन हो जाएगी। मनन विधि 'तत्वमसि' महावाक्य पर आधारित है। यह विधि सत्य को खोजने वालों के लिए अत्यधिक फलप्रद या अर्थपूर्ण है। अतः अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में व्याख्यायित करना आवश्यक है। इस विधि का प्रयोग क्रमशः तीन चरणों में किया जाता है।[108] प्रथम चरण- तत्पदार्थ-शोधन का है जिसमें 'तत्' (That) पदार्थ का परीक्षण किया जाता है। दूसरा चरण- 'त्वंपदार्थ-शोधन' का है, इसमें 'त्वं' (Ego) पदार्थ के शोधन से तत्व तक पहुँचा जाता है। और तीसरा चरण- 'तत्' और 'त्वम्' ('That' and

'Ego') दोनों शब्दों के बीच सम्बन्ध समझने का प्रयास है। अतः वे लोग जो अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं करते, वे मनन को एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं तथा वे द्वितीय स्तर के संदर्भ में ही मनन को स्वीकार करते हैं और शेष अन्य स्तरों की पूर्णतया अवहेलना करते हैं। इस प्रकार सभी उद्देश्यों के लिए उनकी प्रणाली एकांगी और अमूर्त है।

पुनश्च 'त्वंपदार्थशोधन' की कोटि शरीर, इन्द्रिय, प्राणवायु, मस्तिष्क, विचारों और आत्मानन्द की चेतना या सत् का परीक्षण करती है। वर्तमान समय में इन सारे कोटियों का प्रयोग सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान, ज्ञानमीमांसा और धर्मशास्त्र में होता है। ये समस्त विज्ञान मानव-विज्ञान के रूप में जाने जाते हैं। अतः प्रकृति की सभी कोटियाँ जो 'त्वंपदार्थशोधन' से सम्बद्ध हैं और प्रकृति के वास्तविक विषयवस्तु से सम्बन्धित है, मानव विज्ञान में उच्च स्तर प्राप्त परीक्षित सिद्धान्त हैं। यह कोटि अगले चरण में जगत के बाह्य तत्व का अन्वेषण करती है। परम्परागत रूप से इसके चार प्रकार हैं -

पहले, यह प्रकृति के मूल तत्व का परीक्षण ब्रह्मसूत्र और शारीरक भाष्य, सांख्य, वैशेषिक, जैन अभिधर्मवादी, विज्ञानवादी शून्यवादी, पाशुपत और पांचरात्र के सिद्धान्तों के आधार पर करता है और सांख्य के प्रकृति की साम्यावस्था सिद्धान्त को स्थापित करता है।

दूसरे, गौडपाद की मान्यता है कि विषयी एकता जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभवों में विद्यमान है और यह अनुभवों की समग्र एकता के निष्कर्ष पर ले जाती है।

तीसरे, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त के प्रगतिशील 'कारणता सिद्धान्त' के आधार पर कारणता की कोटियों की सहायता से सृष्टि के मूल तत्व का विवेचन करती है।

चौथे, यह सृष्टि के 'पंच तन्मात्र', नाम-रूप और 'अव्यक्त अवस्था के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालता है कि अव्यक्त सत् के अत्यधिक नजदीक है। इस प्रकार 'तत्' (That) के अर्थ को परम्परागत अद्वैतियों ने स्वीकार कर लिया है। वर्तमान समय में अद्वैत वेदान्ती देश, काल, द्रव्य, गति और प्रकृति के तत्व से सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों का परीक्षण कर सकते हैं और प्रकृति के बारे में बेहतर निष्कर्ष रख सकते हैं जो कि 'तत्' विचार से सुसंगत हो। इस प्रकार

आधुनिक समय में विकसित विज्ञान दर्शन अद्वैत दर्शन में महत्वपूर्ण प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। परन्तु अद्वैत 'तत्' और 'त्वं' के विचार को मिलाने का प्रयास करेगा अर्थात 'वह तू ही है' (तत्वमसि)।

अब हम इस सन्दर्भ में 'तत्वमसि'[१०६] महावाक्य की व्याख्या करेंगे। इस महावाक्य में त्वम् (जीव) का तत् (ब्रह्म) के साथ ऐक्य या अभेद का बोध होता है। प्रो० पाण्डेय ने 'तत्वमसि' की व्याख्या के लिए परम्परागत रूप से प्रचलित तीन कड़ियों वाले सोपान का सहारा लिया है। ये निम्नलिखित हैं[११०]–

१. 'तत्' (That) और 'त्वं' (Ego) दोनों पदों का सामानाधिकरण्य,

२. 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदों के वाच्यार्थ 'विशेषण-विशेष्यभाव', तथा

३. प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में 'लक्ष्य लक्षणभाव'

सामानाधिकरण्य में 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों का तात्पर्य एक ही चैतन्य (ब्रह्म) है। अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' का नित्य सम्बन्ध है। दोनों सामानाधिकरण है, दोनों एक हैं। 'त्वं' का वह अर्थ अप्रासंगिक है जो किसी नश्वर या क्षणिक वस्तु जैसे शरीर आदि का बोधक है। उसका वह अर्थ यहाँ अपेक्षित है जो सदा विद्यमान बोध स्वरुप साक्षी वस्तु है। इसी प्रकार 'तत्' का भी नश्वरतापरक अर्थ अप्रासंगिक है। उसका वह अर्थ यहाँ ग्राह्य है जो सकल प्रपंच के सारभूत तत्व को बतलाता है। इस प्रकार 'जहत्-अजहत्' लक्षणा द्वारा तत्वमसि का अर्थ निकलता है कि प्रत्येक की आत्मा और परोक्ष सत् (ब्रह्म) दोनों में अभेद है। आत्मा ही सत् है और सत् ही आत्मा है। यही 'तत्वमसि' का अर्थ है।

अंतिम रूप से तत्वमसि का अर्थ स्थापित हो जाने पर इसे 'ऊँ' (Aum) या 'प्रणव' (Pranava) कहा जाता है। ऊँ एक अक्षर है जो कि अद्वैत की खोज को संक्षिप्त करती है। मनन श्रवण से प्राप्त ज्ञान पर तर्कपूर्ण चिंतन है, यह आत्म ज्ञान में संभाव्य संशय के निवारण के लिए आवश्यक है। मनन का विज्ञान 'प्रणव विद्या' के रूप में जाना जाता है। प्रणव विद्या यह प्रदर्शित करती है कि अद्वैत एक विज्ञान दर्शन है जिसका प्रयोग धर्मदर्शन या विचारशील जीवन

को प्रसन्न्ता की ओर ले जाने में किया जा सकता है। डा० भगवानदास इसे 'शांति का दर्शन' कहते हैं जिसका प्रयोग वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं दुश्चिन्ताओं को दूर करने के लिए किया जा सकता है।

प्रो० पाण्डेय के अद्वैत विज्ञान दर्शन है, मत के प्रतिपक्ष में प्रश्न उठाया जा सकता है कि विज्ञान और दर्शन के बीच बहुत चौड़ी खाई है और दोनों के मध्य कुछ भी उभयनिष्ठ नहीं है। विज्ञान अपराविद्या और दर्शन पराविद्या है। जर्मन वेदान्ती डा० पाल डायसन ने दिखाया है कि ये दो विद्यायें पृथक-पृथक ध्रुव हैं।[11] अतः अद्वैत या पराविद्या को विज्ञान-दर्शन के रूप में स्वीकार करना, उचित नहीं है।

परन्तु ये आपत्तियाँ वैध नहीं हैं। विभिन्न आधुनिक वेदान्तियों जैसे- एस० राधाकृष्णन, ए० सी० मुकर्जी और आर० पी० सिंह ने स्पष्ट किया है कि पाल डायसन का परा और अपरा विद्या का परस्पर विरोध वेदान्त की परम्परा के अनुसार ठीक नहीं है। तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा बहुत कुछ एक ही 'सत्' के दो विभिन्न विचारों को प्रदर्शित करती है। इन दोनों विचारों के अतिरिक्त एक तीसरा विचार है- 'प्रातिभासिक विचार'। अपरा विद्या व्यावहारिक और परा विद्या पारमार्थिक विचार है जबकि प्रातिभासिक विचार आत्मनिष्ठ है। ये तीनों विचार ज्ञानमीमांसा के विचार हैं। प्रो० कार्ल आर० पापर द्वारा दिए गये ज्ञानमीमांसा के तीन दृष्टिकोणों से व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक विचार की तुलना की जा सकती है।[12]

प्रातिभसिक दृष्टिकोण, जगत् के मानसिक स्तर या चेतना के स्तरों की व्याख्या करता है, व्यावहारिक दृष्टिकोण, जगत् के भौतिक अवस्था या भौतिक वस्तुओं को स्पष्ट करता है और पारमार्थिक या अतीन्द्रिय दृष्टिकोण जगत् के विषयपरक तत्व को आत्मसात् करता है जो कि काव्यात्मक और वैज्ञानिक विचारों, कलात्मक कार्य और धर्म का जगत है। इस प्रकार अद्वैत स्पष्ट करता है कि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से तीन जगतों की सत्ता है और सत्तामीमांसीय दृष्टि से एक ही विश्व है। कार्ल पापर की तीन ज्ञानमीमांसाओं की ही भाँति अद्वैत भी तीसरी ज्ञानमीमांसा की बात करता है और विशिष्ट तर्कों द्वारा उसकी व्याख्या भी करता है कि वस्तुनिष्ठ जगत भौतिक

वस्तुओं से और आत्मनिष्ठ जगत् मानसिक अवस्था से सम्बन्धित है। प्रो० पाण्डेय का दृष्टिकोण है कि परम सत्ता एक ही है और वह है ब्रह्म जिसका सिद्धान्त रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता है। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि मानव दृष्टिकोण स्वंय में अतीन्द्रिय है। इस प्रकार परा विद्या दर्शन के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान का सिद्धान्त है।[११३] शंकर और अन्य भारतीय दार्शनिकों जैसे सांख्य ने विज्ञान का एक प्रतिमान प्रस्तुत किया है जो कि प्रकृति की एकरूपता, विकासवाद का सिद्धान्त, तीन गुण का सिद्धान्त, तन्मात्र का सिद्धान्त के रूप में अत्यन्त उपयोगी है। ये सिद्धान्त सभी प्राचीन भारतीय विज्ञानों की आधार शिला है। शंकर ने विशेषकर शारीरक भाष्य में सांख्य के सिद्धान्तों की आलोचना की है। उन्होंने 'तर्कपाद' में ही इसकी आलोचना नहीं की है अपितु जहाँ अन्य समस्त दार्शनिक मतों की आलोचना करते हैं या जहाँ कहीं भी उन्हें अवसर प्राप्त हुआ है इसकी आलोचना की है। इस प्रकार शंकर की दृष्टि में सांख्य वर्तमान का विज्ञान है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि सांख्य और वैशेषिक मूलतः विज्ञान है और उनकी समीक्षा से विकसित होने के कारण अद्वैत वेदान्त विज्ञान दर्शन है।

सन्दर्भ

१. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १९८५ पृ० १०९

२. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, संगम लाल पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद, १९७६, पृ० ३५०

३. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३१

४. प्रार्थना प्रवचन, भाग १, २, महात्मा गांधी

५. दि कान्सेप्शन आफ स्प्रिच्युअल लाइफ इन महात्मा गांधी एण्ड हिन्दी सेन्ट्स, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, पृ० ७९

६. कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रयैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति संङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये।। - भगवद्गीता ५/११

७. गीतामाता, महात्मा गांधी, पृ० ११२

८. वही, पृ० १३८

६. वही, पृ० १५०

१०. वही, पृ० १३६

११. वही, पृ० १४१

१२. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। - भगवद्गीता ३/३५

१३. गांधी का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, पृ० ६४

१४. वही, पृ० ६५

१५. हिन्दू धर्म, महात्मा गांधी, पृ० ३६३

१६. वही, पृ० ३७८-३७६

१७. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०७

१८. 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते।' सर्व वेदान्त सिद्धान्त सारसंग्रह, शंकराचार्य, पृ० २६५

१६. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ५७

२०. कठोपनिषद् २.१.१३

२१. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्यप्रकाश पाण्डेय, पृ० १७

२२. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ५६

२३. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० १८

२४. भारतीय दार्शनिक निबन्ध, संपादक - डी० डी० वंदिष्टे एवं रमाशंकर शर्मा, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १६८३, पृ० १२८

२५. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० ४३

२६. पंचदशी - ६/१३०

२७. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३५६

२८. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० ४६

२६. 'जन्माद्यस्य यतः', ब्रह्मसूत्र - १.१.२

३०. शारीरक भाष्य - १.१.२

३१. माण्डूक्य कारिका, आचार्य गौडपाद, ३.२८

३२. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ४७-४८

३३. यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धि व्यभिचरति तद् असद् इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते। - गीता, शांकरभाष्य, १६?

३४. यद्रूपेण यन्निश्चिप तद्रूप न व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रूपेण यन्निश्चित तद्रूप व्यभिचरति अनृतमित्युच्यते। अतो विकारोऽनृतम्।। - तैत० उप० शा० भा० २.१

३५. 'एक रूपेण ह्यवस्थितोऽर्थः परमार्थः' - ब्रह्मसूत्र, शांकर-भाष्य २.१.११

३६. अद्वैत परिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० ६७

३७. गीता, शांकर भाष्य, ७.४, १३.१६, १३.२६

३८. वही, १३.२०

३६. विवेक चूड़ामणि, शंकर, श्लोक- ११०

४०. वही, ११३

४१. वही, ११५

४२. वही, ११६

४३. शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र, १.४.३

४४. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.१०

४५. शांकरभाष्य गीता, उपोद्घात

४६. भारतीय दार्शनिक निबन्ध, संपादक बंदिष्टे एवं शर्मा, पृ० १२६

४७. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगमलाल पाण्डेय, पृ० ५७

४८. वही, पृ० ५६

४६. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३६४

५०. अद्वैत परिभाषाः संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्यप्रकाश पाण्डेय, पृ० ६८

५१. तत्सादृश्यमभावश्चाल्पताधिक्यं तदनन्यता। स्तुतिनिन्दे च विरोधो न अर्था अष्टधा स्मृताः।।
गहन ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न, डा० संगम लाल पाण्डेय पृ० १०८

५२. अविद्यालेश सिद्धान्त व्याख्यानं त्रिविधं कृतम्। अनन्यशक्ति तुच्छेभ्यो जीवेश ब्रह्मदृष्टिभिः।।
प्रो० संगम लाल पाण्डेय द्वारा विरचित श्लोक जो उनके अंग्रेजी निबन्ध 'The Advaita School of Idendity' में दिया गया है, संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य

५३. गौडपाद-माण्डूक्यकारिका, अद्वैत प्रकरण १८

५४. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगमलाल पाण्डेय पृ० १७

५५. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, ३२ और उस पर डा० रमाशंकर भट्टाचार्य प्रणीत ज्योतिषमति व्याख्या

५६. भगवद्गीता, २/६६

५७. छांदोग्य उपनिषद्, ६.१२.३

५८. ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०५

५६. शंकर मिश्र : अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष, सत्य प्रकाश पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, १६६०, पृ० ११

६०. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० ४५

६१. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ५७

६२. पारमार्थिकं द्वैतं द्वैत भजनहेतवे, त्रिपुरा सुन्दरी रहस्यम् संस्कृत वाङ्गमय का वृहद् इतिहास दशम् खण्ड वेदान्त, संपादक-संगम लाल पाण्डेय, उ० प्र० संस्कृत संस्थान लखनऊ १६६६, पृ० १४८ में उद्धृत

६३. भागवत् पुराण ७.२.११

६४. रामचरित मानस, बालकाण्ड, दोहा- २२

६५. मोक्षपंथ प्रकाश, श्री निर्मल पंचायती अखाड़ा, कनखल हरिद्वार १६७७ समीक्षात्मक भूमिका, पृ० ३० में उद्धृत पं० गुलाब सिंह निर्मल की चौपाइयाँ

६६. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० ४४

६७. प्रो० संगम लाल पाण्डेय द्वारा विरचित श्लोक जो उनके अंग्रेजी निबन्ध 'The Advaita School of Identity' में दिया गया है, संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य

६८. भूरतिव्याहरतस्य भूमियसृजत। - तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/४/२

६९. नामरूपं च भूतानां कर्मणा च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।। - मनुस्मृति १.२१

७०. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। - वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १

७१. तत्व वैशारदी, पृ० ३२० ,

७२. भारतीय संस्कृति और साधना, डा० गोपीनाथ कविराज

७३. 'वर्णेभ्यश्चार्थ प्रतीतेः संभवात्स्फोट कल्पनानर्थिका'। - ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य, १.३.२८

७४. 'अभिव्यंजक वैचित्र्य निमित्तोऽयं वर्ण विषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूप निमित्तिः।'- ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य, १.३.२८

७५. वही, १.३.२८

७६. स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। - वही, १.३.२८

७७. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १२३

७८. रेलीजन आफ दि वेद, ब्लूम फील्ड, पृ० ८२

७९. नव्यं प्रयागदर्शनम्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३

८०. 'आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। - तैत्तिरीय उपनिषद ३.६

८१. 'अनवच्छिन्नानन्द प्राप्तिः'। - सिद्धान्त लेशसंग्रह

८२. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १२४

८३. वही, पृ० १२५

८४. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा - २२

८५. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्।। -ईशोपनिषद १

८६. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २२४

८७. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १२७

८८. भारतीय दर्शन, एस० राधाकृष्णन, खण्ड-२, पृ० ५६५

८६. स्टडीज इन फिलासफी, के० भट्टाचार्य, खण्ड-१, कलकत्ता १६५६, पृ० ११८-११६

६०. ए माडर्न अण्डरस्टैंडिंग आफ अद्वैत फिलासफी, कालिदास भट्टाचार्य, अहमदाबाद १६७५, पृ० १५

६१. कन्टेम्पोररी रेलीवेन्स आफ दि इन्साइट्स आफ अद्वैत इन कन्टेम्पोररी इण्डियन फिलासफी, टी० एम० पी० महादेवन, भाग-२, संपादक- मार्गेट चटर्जी, लंदन १६७४, पृ० १०६-१३२

६२. अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइन्स, एस० एल पाण्डेय, इण्डियन फिलासोफिकल काँग्रेस केरल १६७६ द्वारा प्रकाशित लेख, पृ० २

६३. 'अस्मदीयो दर्शन पक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः'। - गौडपादकारिका, शांकर भाष्य, ३.१७

६४. 'प्रयत्नोऽभिद्यातादिर्वा'। ब्रह्मसूत्र, शारीरकभाष्य, ३.२.१२

६५. शांकर शारीरकभाष्य, २.३.६

६६. जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।। संस्कृत विचार सागर, द्वितीय तरंग, पृ० ५२

६७. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं, प्रमाणं च यथाभूत वस्तु विषयम्। यतोज्ञानं कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा व कर्त्तुम् अशक्यम्, केवलं वस्तुतंत्रमेव तत्।। शारीरकभाष्य, १.१.४

६८. 'तत्रयैवं सति ब्रह्मज्ञानं वस्तुतंत्रमेव, भूतवस्तु विषयकत्वात्'। शारीरकभाष्य, १.१.२

६६. वेदान्तिक एपिस्टिमोलाजी, जी० आर० मलकानी, अमलनेर (इण्डिया) १६५३, पृ० १३

१००. 'अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तु विषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य'। शारीरकभाष्य, १.१.४

१०१. वही, १.१.४

१०२. अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचो प्रपंच्यते। शंकर, 'पंचीकरणम्' गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, पृ० १

१०३. आब्जेक्टिव नालेज, कार्ल आर० पापर, आक्सफोर्ड १६७२, पृ० ८१

१०४. 'प्रतप्तायस्य पिण्डवत्'। आत्मबोध, शंकराचार्य, ६२

१०५. विज्ञानश्चमिथ्याज्ञान निवर्तकत्वं - व्यतिरेकेण अकारकत्वं इति अवोचाम्।

१०६. अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइन्स, एस० एल० पाण्डेय, पृ० ८

१०७. 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। - भगवद्गीता, ४.३८

१०८. अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० २२७

१०९. छांदोग्य उपनिषद् ६.८.७

११०. अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइंस, एस० एल० पाण्डेय, पृ० १०-११

१११. वेदान्त दर्शन, डा० पाल डायसन के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ६६-११३

११२. आब्जेक्टिव नालेज, कार्ल आर० पापर, पृ० १०६-११२

११३. अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइन्स, एस० एल० पाण्डेय, पृ० १२-१३

षष्ठम् अध्याय

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान
प्रो० संगम लाल पाण्डेय का लोकायन दर्शन

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान

अनन्यता प्रस्थान अद्वैत वेदान्त का एक नया प्रस्थान है जो वार्तिक-प्रस्थान, विवरण-प्रस्थान, भामती-प्रस्थान और बाध-प्रस्थान के समकक्ष है। अनन्यता प्रस्थान में अद्वैत वेदान्त के प्राचीन चारों प्रस्थानों का सारामृत भी सुरक्षित है।[1]

यद्यपि अनन्यता-प्रस्थान की स्थापना प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने स्पष्ट रूप से अपने ग्रन्थ 'शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन' में भली-भाँति किया है तथापि उसके बीज तथा सिद्धान्त उनके द्वारा लिखे गये अनेक लेखों में पहले से ही विद्यमान थे। प्रो० पाण्डेय ने यहाँ बाध-प्रस्थान के समकक्ष अनन्यता प्रस्थान को स्थापित करने का प्रयास किया है। इस प्रस्थान में केवल एक और अद्वितीय सत् की मान्यता है और अनन्यता नियम के द्वारा उससे अद्वैत के सभी सिद्धान्तों का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे बाध-प्रस्थान की आधारशिला तर्कशास्त्र का अबाध-नियम है वैसे ही अनन्यता-प्रस्थान की आधार शिला अनन्यता का नियम है। जो अनन्य नहीं है तथा अन्य, भिन्न या पृथक है वह अमूर्त खण्डित और असत्य है, यह अनन्यता प्रस्थान का मुख्य प्रतिपाद्य है। यह प्रस्थान अन्यता, अन्य आत्मा और अन्य पदार्थ का खण्डन करता है और सिद्ध करता है कि अन्यता मात्र मृगतृष्णा है। पुनश्च, उसका दूसरा प्रतिपाद्य यह दिखाना है कि जो भी सत् ज्ञेय या अनुभव गम्य है, वह आत्मा से अनन्य है।

यदि बाध-प्रस्थान का उचित मूल्यांकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसकी परिणति अनन्यता सिद्धि में होती है क्योंकि वह दिखाता है कि जो कुछ ज्ञेय है वह सब आत्मा से अनन्य है या आत्मपूर्वक है। यदि उसे हम आत्मा से पृथक करके देखें या विचारें तो वह व्याघात पूर्ण

हो जाता है। इस प्रकार बाध-प्रस्थान प्रायः प्रसंगानुमान के द्वारा अनन्यतावाद की ही स्थापना करता है। अतः अनन्यता प्रस्थान को स्थापित तथा विकसित करने की आवश्यकता है।

अनन्यता प्रस्थान को सिद्ध करने के लिए प्रो० पाण्डेय तर्क देते हुए कहते हैं - यदि बाध है तो अनन्यता अवश्य है क्योंकि दो प्रत्यय तभी परस्पर बाध्य-बाधक होते हैं जिनमें कुछ एकता या अनन्यता रहती है। पुनः यदि बाध नहीं है तो अनन्यता का सिद्धान्त निष्कंटक और निर्दोष स्वतः हो जाता है।[२] अतः बाध अनन्यता का आश्रय लेकर ही फलित होता है और अनन्यता परिणामतः बाध को दूर कर देती है। अनन्यता इस प्रकार बाध के लिए अपरिहार्य है।

अनन्यता प्रस्थान के लिए युक्तियाँ

अनन्यता प्रस्थान के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं -

१. बाध-प्रस्थान की परिणति भेद के खण्डन में हुई है, जिससे भेद-धिक्कार या भेद का निराकरण उसका मुख्य प्रतिपाद्य हो गया। कहने का तात्पर्य है कि बाध-प्रस्थान ने भी आत्मा की अनन्यता को अथवा आत्मा से सभी विषयों की अनन्यता को ही सिद्ध किया है।

२. अद्वैत के सभी प्रस्थान केवलाद्वैत की स्थापना करते हैं, वह वास्तव में अनन्यता की सिद्धि ही है। अद्वैत, अभेद, तादात्म्य और अनन्यता ये चार प्रत्यय एक ही परिवार के सदस्य है, जिनमें सर्वाधिक स्पष्ट ओर निर्विवाद अनन्यता का प्रत्यय है। अतः अद्वैत के प्रत्यय का पूर्ण तार्किक विकास अनन्यता के प्रत्यय में हुआ है। इस कारण अनन्यता प्रस्थान सभी प्रस्थानों का मुख्य तात्पर्य है।

३. सभी अद्वैतवादी यह सिद्ध करते हैं कि उनके दर्शन का विरोध किसी अन्य प्रकार के अद्वैतवादी दर्शन से नहीं है। उनके इस मत को अविरोधवाद या अविवाद कहा जाता है, जिसका उन्नयन गौडपाद और शंकराचार्य ने किया है। यदि इस विचार धारा का निष्कर्ष देखा जाय तो सिद्ध होगा कि वास्तव में सर्वानन्यतावाद ही उनका मुख्य दर्शन है।

अनन्यता का सिद्धान्त एक तर्कप्रणाली प्रदान करता है जिसका उपयोग ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है। इस प्रणाली से सिद्ध होता है कि ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र अन्ततोगत्वा अद्वैतवाद को सिद्ध करता है। पुनश्च, आधुनिक युग में इस प्रणाली का उपयोग करके वेदान्त की तुलना प्लेटो, काण्ट, स्पिनोजा, फिक्टे, हेगल, ग्रीन, ब्रैडले, यास्पर्स हुसर्ल आदि के दर्शनों से की गयी है और उनका अविरोध अद्वैतवाद से दिखाया गया है।

४. सभी अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं कि जो विषय है वह आत्मपूर्वक है। इस प्रसंग में प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने सिद्ध किया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, भेद, भेदाभेद, मन, अहंकार चित्त, शून्य, अशून्य मिथ्यात्व, भ्रम, स्वप्न इत्यादि जितने प्रकार के विषय हैं वे अनात्मा हैं और अनिवार्यतः आत्मपूर्वक है। इस कारण वे सभी आत्मा से अनन्य हैं। पुनश्च, उपनिषदों का प्रतिबोध-विदित न्याय का प्रयोग करते हुए उन्होंने दिखलाया है कि विषय ज्ञान में और विषय ज्ञान के द्वारा आत्मा विज्ञेय है क्योंकि वह इस प्रकार विज्ञेय होने पर भी विषय नहीं है। इसलिए उसे विदित तथा अविदित से परे कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि सभी प्रकार के ज्ञान आत्मज्ञान को ही सिद्ध करते हैं क्योंकि उसके बिना उसकी वैधता संभव नहीं है।[3]

५. नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के लिए भी अनन्यता आवश्यक है क्योंकि परमात्मा से अनन्य होना कर्त्तव्य-पालन और उपासना के लिए आवश्यक है।

अनन्यता प्रस्थान की तर्कप्रणाली

अनन्यता प्रस्थान, बाध-प्रस्थान के समानान्तर है और वह एक तर्क प्रणाली देता है जो काण्ट के अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction) की प्रणाली है। वह सिद्ध करती है कि प्रत्येक विषय आत्मा के अवबोध के बिना संभव नहीं है और प्रत्येक विषय से ज्ञान की प्रागपेक्षा के रूप में आत्मबोध की सिद्धि होती है। वास्तव में आत्मज्ञान से अन्य या अधिक कुछ

भी नहीं है।[४] काण्ट ने अतीन्द्रिय निगमन के द्वारा देशकाल, बारह वर्गणाओं तथा आत्मज्ञान की एकता को सिद्ध किया है। शंकराचार्य इसके द्वारा केवल आत्मज्ञान की एकता को ही सिद्ध करते हैं। उनके विचार से देशकाल तथा निमित्त या कार्यकारण भाव आदि वर्गणाएँ वास्तव में इस प्रकार के संश्लेषण सिद्धान्त नहीं हैं, जिस प्रकार का सिद्धान्त आत्मज्ञान की एकता है। अतः अनन्यता प्रस्थान अतीन्द्रिय निगमन प्रणाली के द्वारा आत्मज्ञान की एकता के अतिरिक्त और किसी अन्य तत्व को समस्त ज्ञेय विषयों की प्रागपेक्षा नहीं मानता है। इस प्रसंग में अनन्यता प्रस्थान शंकराचार्य के निम्नलिखित कथन को गहराई से प्रयोग में लाता है- 'आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्'।[५]

शार्गधर पद्धति में कहा गया है कि- यहाँ कुछ नहीं है, अन्यत्र कुछ नहीं है। जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ-वहाँ कुछ नहीं है। वास्तव में स्वात्मा के बोध से अधिक कुछ नहीं है। इससे जो अधिक है वह आत्मा से भिन्न है, किन्तु आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ सम्भव नहीं है।[६] शंकराचार्य कहते हैं कि बिना आत्मा के किसी वस्तु का ग्रहण अथवा ज्ञान नहीं हो सकता, इस कारण आत्मा ही सब कुछ है।

वादरायण ने ब्रह्मसूत्र में भेद का खण्डन करते हुए कहा है कि 'अधिकं तु भेद निर्देशात्' अर्थात् आत्मा से जो अधिक है वह कल्पित है। वह भेद के कारण है और भेद वास्तविक नहीं है अपितु औपाधिक है। इस कारण आत्मा से भिन्न कोई सत् पदार्थ नहीं है। इस प्रकार ईश्वर, प्रकृति, परमाणु शक्ति आदि कोई भी पदार्थ अस्तित्ववान नहीं है। अन्यत्र वादरायण कहते हैं कि जो कुछ विषय रूप से प्रतीत होता है, वह सब आत्मा से अनन्य है[७] और इस कारण वह स्वतः स्वतन्त्र सत् नहीं है। उसमें जो सत्ता विद्यमान है, वह वस्तुतः आत्मा का ही अस्तित्व है जो याचितमण्डन न्याय द्वारा पृथक् सत् रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह वास्तव में अनन्यतावाद की सिद्धि है।

यदि सूक्ष्मता से विश्लेषण किया जाय तो वादरायण, शंकराचार्य एवं बाध-प्रस्थान के सभी दार्शनिकगण आत्मा की सर्वानन्यता का ही प्रतिपादन करते हैं।[८] इसी आधार पर प्रो० पाण्डेय ने

अनन्यता प्रस्थान की स्थापना की है।[६] उनका कहना है कि यह प्रस्थान शंकराचार्य के सभी मतों की जैसी सुसंगत व्याख्या करता है, वैसा कोई दूसरा प्रस्थान नहीं करता। पुनश्च, यह प्रस्थान अद्वैत वेदान्त की तर्क प्रणाली को विशेष रूप से प्रकाशित करता है और दिखाता है कि यह प्रणाली हेगल के प्रत्ययवादी द्वन्द्व न्याय और मार्क्स के भौतिकवादी द्वन्द्व न्याय से भिन्न है।

हेगल ने जो प्रत्ययवादी द्वन्द्व न्याय दिया है वह भेदाभेद पर निर्भर है। उनका कहना है कि भेद अभेद-मूलक होता है तथा अभेद भेदोन्मुख होता है। ज्ञान एक ओर खण्डन करता है तो दूसरी ओर खण्डन किये गये विषयों में अभेद भी देखता है। इस कारण ज्ञान पक्ष, प्रतिपक्ष एवं समन्वय के तीन सोपानों को विकसित करता है। पक्ष, प्रतिपक्ष एवं समन्वय की गति तब तक अबाध रूप से चलती रहती है जब तक कि निरपेक्ष प्रत्यय में सभी द्वन्द्वों एवं विरोधों का शमन नहीं हो जाता। इस प्रकार हेगल निरपेक्ष प्रत्ययवाद की स्थापना करते हैं। परन्तु उनका यह सिद्धान्त कल्पनावाद ही है क्योंकि जिस निरपेक्ष प्रत्यय को वे द्वन्द्वातीत सिद्ध करते हैं वह केवल कपोल कल्पना है। बुद्धि के लिए यह संभव नहीं है कि वह खण्डन प्रक्रिया से ऊपर उठकर द्वन्द्वातीत प्रत्यय तक पहुँचे। इस विषय पर नागार्जुन ठीक ही कहते हैं कि जितना ही अधिक विचार किया जाता है, विस्तारित वस्तु उतनी ही अधिक विशीर्ण हो जाती है।[१०] ऐसी दशा में हेगल का द्वन्द्वन्याय सदैव मानसिक या बौद्धिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है।

प्रो० पाण्डेय के अनुसार अद्वैत वेदान्त की तर्कप्रणाली हेगल के द्वन्द्व न्याय का खण्डन करती है और एक ऐसा द्वन्द्व न्याय प्रदान करती है जो समस्त विरोधों का परिहार करके अविरोधवाद को जन्म देता है। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह के द्वारा अहिंसक समाज की स्थापना करने का जो प्रयास किया है, वह युद्धवादी एवं हिंसावादी विचारकों के विपरीत है तथ वह अद्वैत वेदान्त की तर्क प्रणाली पर आधारित है। सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए प्रो० पाण्डेय ने दिखलाया है कि इसके मूल में इति-इति की प्रक्रिया है जो नेति-नेति की प्रक्रिया का आधार है[११] तथा जिसका व्यावहारिक रूप सत्याग्रह है। इति-इति की प्रक्रिया को उपनिषदों में 'एतद् वैतद्' कहा गया है। वास्तव में यह अनन्यता एतद् वैतद् सिद्धान्त की

अभिव्यक्ति है। एतद् वैदत् स्वरूप की पहचान कराने वाला श्रुतिवाक्य है। यह आधुनिक शब्दावली पहचान की विधि है। इस प्रकार सत्याग्रह जिस सिद्धान्त पर आधारित है वह अनन्यता का सिद्धान्त है। प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि आत्मा ही एकमात्र तत्व है, क्योंकि वह प्रत्येक विषय या प्रत्यय में निहित है। इस दृष्टि से सर्वत्र समरूप से आत्मदर्शन ही होता है।

यहाँ गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त के द्वारा हेगल के द्वन्द्व न्याय का जो निराकरण किया गया, वह मार्क्सवादी द्वन्द्व न्याय को और अधिक प्रबल युक्ति से काट देता है क्योंकि मार्क्स ने निषेध के निषेध को ही द्वन्द्व न्याय का सार बताया था और अभेद का निराकरण किया था जिसे हेगल का द्वन्द्व न्याय मानता है। अद्वैतवाद अभेदवाद को ही द्वन्द्व न्याय का सार बताता है और निषेध को केवल अभेदमूलक तथा फलनात्मक उपाधि कहता है।

पुनश्च, प्रो० पाण्डेय ने अनन्यता मूलक तर्क प्रणाली का विकास गौडपाद के द्वन्द्व न्याय के विश्लेषण में किया है। उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार गौडपाद ने अनन्यता मूलक तर्कप्रणाली का प्रयोग दस बार करके सिद्ध किया है कि इन दस सिद्धान्तों के क्षेत्र में अनन्यता अविवाद स्थापित करती है।[१२] उदाहरण के लिए सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद परस्पर विरोधी हैं परन्तु ये दोनों वाद तर्कतः अजातिवाद को सिद्ध करते हैं जो कि उनके मूल में है और जो अनन्यता सिद्धान्त को अभिव्यक्त करता है क्योंकि अजातिवाद के अनुसार जो है सो है और उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। जो उत्पन्न होता है वह मात्र कल्पित है, यथार्थ नहीं है। इस प्रकार अनन्यता प्रस्थान की तर्कप्रणाली से स्पष्ट है कि अपरोक्ष अनुभूति सभी विषयों के ज्ञान में निहित रहती है। यह अपरोक्ष अनुभूति स्वात्मानुभव है जो सिद्ध करता है। कि उससे भिन्न या अन्य जो कुछ है वह सत्य नहीं है। सत्य 'एकमेवं अद्वितीयम्' है और वह स्वात्मानुभव है।

अनन्यता प्रत्यय का विश्लेषण

अनन्यता प्रस्थान का प्रमुख कार्य अनन्यता तथा उससे मिलते जुलते अन्य सभी प्रत्ययों का स्पष्ट विश्लेषण करना है। यह विश्लेषण प्रो० पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन' नामक ग्रन्थ में किया है।[१३]

उन्होंने अनन्यता के समकक्ष कई प्रत्ययों को लिया है जिनमें अभेद, तादात्म्य, अद्वैत, एकता और एकरसता प्रमुख हैं। तादात्म्य को सामान्यतः अद्वैत के अर्थ में लिया जाता है। किन्तु इन दोनों सम्प्रत्ययों में कुछ सूक्ष्म अन्तर भी है। तादात्म्य वास्तव में ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध है। कोई वस्तु आत्म तत्व के बिना ज्ञेय नहीं हो सकती, इसलिए आत्म तत्व को उस ज्ञेय वस्तु की आत्मा कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यह अनन्यता सम्बन्ध है क्योंकि ज्ञेय आत्मा से अन्य नहीं है। पुनश्च, आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दोनों आत्म तत्व ही हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध को अद्वैत या अभेद कहा जाता है। विषय आत्मा से अनन्य तो है किन्तु वे आत्मा से अभिन्न नहीं हैं। विभिन्न उपाधियों के कारण जब आत्म तत्व के ज्ञाता स्वरूप के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हे तो निरूपाधिक रूप से इन सभी स्वरूपों में अभेद सम्बन्ध रहता है। शंकराचार्य ने कहा है कि किसी परमार्थ का आश्रय लेकर ही अपरमार्थ का निषेध किया जाता है।[14] इसका तात्पर्य है कि किसी भावात्मक ज्ञान का आधार लेकर ही निषेध की प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। अतः निषेध न तो स्वावलम्बी है और न तो वह निषेध के लिए है बल्कि वह भावाश्रित है और भाव के लिए है, किन्तु यहाँ भाव का अर्थ आत्मा है। अतः आत्मा निषेध का आश्रय है और आत्मा के लिए ही अनात्मा का निषेध किया जाता है। इस प्रकार अद्वैत एक तर्कप्रणाली है जो सिद्ध करती है कि आत्मा ही अद्वैत है और अद्वैत ही आत्मा है। आत्मा का अर्थ इस प्रकार एकत्व, एकम् और अद्वितीयम्, अद्वैतम तथा आत्माभिन्न समस्त भावों का निषेध है। यही आत्माद्वैतवाद का सिद्धान्त है।

आधुनिक युग में जर्मन गणितज्ञ और तर्कशास्त्री फ्रेगे ने राधेय-कौन्तेय न्याय की तरह एक सूत्र वाक्य दिया है कि 'भोर का तारा (Morning star) शाम का तारा (Evening star) है'। भोर का तारा और शाम का तारा, इन दो पदों के वाच्यार्थ (Sense) भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इनका निर्देश (Reference) एक ही है और वह शुक्र नक्षत्र (Venus) है। इस प्रकार जो एक और अभिन्न है, उसका बोध वास्तव में निर्देशात्मक परिभाषा द्वारा होता है। वेदान्त में इस निर्देश को ही 'तत्' पद कहा गया है और तत् को शुद्ध व्यक्तिवाचक नाम माना गया है। कहने का तात्पर्य है कि जो तत् है वह न तो द्रव्य है, न गुण है, न क्रिया है, न वह जाति है और न तो

वह व्यक्ति है। उसका वर्णन केवल तत् या एतद् के द्वारा किया जा सकता है। वास्तव में नाम ही एक और अभिन्न है। अतः एकत्व का अर्थ समझने के लिए नाम के विश्लेषण की आवश्यकता है।

पुनश्च, जैसे 'तत्' शुद्ध नाम है, वैसे ही 'एतद्' भी शुद्ध नाम है। उपनिषदों में 'एतद्वैतद्' अर्थात् यह वह है ऐसा कह कर 'तत्वमसि', 'सोऽहमस्मि' इन वाक्यों का अर्थ निरूपित किया गया है। इसमें जो ऐक्य है वह आत्मा से अभिन्न है। दूसरे शब्दों में जो तत् है या जो एतद् है वह आत्मा है और आत्मा ही शुद्ध नाम है। संत रैदास आत्मा का अभेद नाम से करते हैं जिसे अपना नाम, निज नाम, अपने राम भी कहा जाता है -

''रैदास तू काँवच फली, तुझे न छीजै कोय।
तू निज नाम न जानिया, भला कहाँ ते होय।।''

वस्तुतः नाम साधना, नाम योग, नाम महात्म्य, नाम जप, नाम तप आदि पद समूहों में नाम का अर्थ आत्मा है जो गुण, क्रिया, जाति और द्रव्य से भिन्न तत्व या सत् है। कबीर सत् को नाम कहते हें और मानते हैं कि सत् नाम सबसे न्यारा है तथा वह सगुण और निर्गुण का मूल है- 'सत्त नाम है सबते न्यारा, निर्गुण सगुण सत्त पसारा'। उनके मत से नाम मूल है और ज्ञान उसकी शाखा है। आधुनिक शब्दावली में इसका तात्पर्य है कि नाम जात सत् से अभिन्न है ज्ञान का पूर्ववर्त्ती है।

नाम के सम्बन्ध में प्रो० पाण्डेय का मत निम्नलिखित है -

''गुण-नाम क्रिया-नाम, सन्नाम जाति-नाम च।
संयोगोपाधि छद्मैश्च, सन्नाम बहुधा मतम्।।''[१]

अर्थात् नाम का सामान्य अर्थ शब्द है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शब्द आते हैं। हेमचन्द्र की पुस्तक 'देशीनाम-माला', नाम लिंगानुशासनम्' आदि में नाम का अर्थ यह है। इनमें से अधिकांश गुणनाम, जातिनाम और क्रियानाम है किन्तु सन्नाम इन सभी नामों से भिन्न है। सन्नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा है और इस कारण वह नदी जैसे गंगा, पर्वत जैसे हिमालय, पुस्तक जैसे

रामायण, भारत जैसे एक देश, हिन्दी जैसे एक भाषा आदि व्यक्तिवाचक रूपों में प्रचलित है, किन्तु वस्तुतः ये सभी नाम भी मात्र औपाधिक हैं और सत्ता के नाम नहीं हैं।

भाषा दर्शन और तर्कशास्त्र की दृष्टि से 'यह', 'वह' ये दो पद सन्नाम से एक और अभिन्न हैं। उपनिषदों ने इसीलिए 'एतद्वैतद्' कहकर इस मत को स्थापित किया है। समकालीन दर्शन में रसेल का भी मत है कि वास्तव में शुद्ध नाम केवल 'तत्' (वह) है या 'इदं' (यह) है। ब्रैडले ने भी जब 'तत्' और 'किम्' का भेद किया तो उसने भी नाम के रुप में 'तत्' की प्रतिष्ठा की। भगवद्गीता में भी 'तत्' और 'सत्' को ही एक और अभिन्न नाम के रूप में माना गया है। शंकराचार्य ने इसी अर्थ में आत्मा का प्रयोग किया है और माना है कि यद्यपि आत्मा अपरिभाष्य और अनिवर्चनीय है तथापि वह शाब्द है क्योंकि शब्द की लक्षणावृत्ति द्वारा उसका बोध किया जा सकता है। पुनश्च, यद्यपि आत्मा अविषय है तथापि वह अज्ञेय नहीं है क्योंकि ज्ञान से वह अनन्य है। इन दृष्टियों से यदि हम देखें तो जो शुद्ध नाम है, उसका केवल वस्त्वर्थ होता है, गुणार्थ नहीं। फिर भी गुणार्थ निरर्थक और अनुपयोगी नहीं है क्योंकि उनके माध्यम से 'तत्' को लक्षित किया जाता है। जो कुछ भी ज्ञेय तथा अभिधेय है, उसके मूल में 'तत्' और 'सत्' की अनन्यता का सिद्धान्त सन्निहित है। अतः सत्ता ज्ञान से अनन्य है। प्रो० पाण्डेय तादात्म्य का अर्थ अनन्यता करते हैं। अनन्यता अभेद नहीं है, क्योंकि अभेद भेद का पूर्ण निराकरण करता है और केवल निरपेक्ष निरूपाधिक एकता का ही विधान करता है। उदाहरण के लिए वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं कि कार्य-कारण से अभिन्न नही है, वैसे ही अद्वैतवादी भी मानते हैं कि कार्य-कारण से अभिन्न नहीं है क्योंकि कार्य वास्तव में वाचिक विकार है। अद्वैतवाद के अनुसार कार्य-कारण से अनन्य है, न कि अभिन्न। वाचस्पति मिश्र कहते है- 'अनन्यत्वमिति न च अभेदम्' किन्तु 'भेदं व्यासे धामः' अर्थात् अनन्यत्व से तात्पर्य अभिन्नता या अभेद नहीं है अपितु उसका तात्पर्य यह है कि कोई विषय अन्य नहीं है। जो है या जिसका ग्रहण हो सकता है वह आत्मपूर्वक होने के कारण आत्मा से अनन्य है।

पुनश्च भक्त और भगवान का सम्बन्ध एक दृष्टि से तो अभेद का सम्बन्ध है किन्तु दूसरी दृष्टि से आहार्यज्ञान के द्वारा आनन्द लेने के लिए भक्त भगवान से अपने भेद की कल्पना

करता है। यद्यपि उसका यह भेदभाव अनन्यता का ही एक प्रकार है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति भगवद्गीता में की गई है-

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।"

भगवद्गीता, ६/२२

इसी तथ्य को वेदान्त में अनन्यता कहा गया है कि यद्यपि भक्त और भगवान में कोई भेद या अन्तर नहीं है तथापि भक्त भगवान का है और भगवान भक्त का नहीं है। इस प्रसंग में शंकराचार्य का निम्न वाक्य प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है -

"सत्यपि भेदापगमें नाथ अहं तवास्मि न तु मामकीनस्त्वम्।"

अर्थात् हे नाथ! यद्यपि हमारे और आप के बीच भेद नहीं रह गया है तथापि मैं आपका हूँ और आप मेरे नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जीव व ब्रह्म का अभेद निरपेक्ष समतुल्यता नहीं है। वह सायुज्य और साम्य तो हैं किन्तु सापेक्षिक अभेद या समतुल्यता है।

आत्मतत्व के अतिरिक्त जितने प्रकार के पदार्थों का विवेचन दार्शनिक गण करते है उन सबका खण्डन करना अनन्यता प्रस्थान का मुख्य प्रयोजन है। स्वयं शंकराचार्य ने वैशेषिक के सप्त पदार्थों का खण्डन करके दिखलाया है कि आत्मा की अनन्यता के अतिरिक्त उनका जे भी स्वरूप है वह यथार्थ नहीं है। उनकी इसी खण्डन विधि का प्रयोग प्रो० पाण्डेय ने काण्ट के द्वारा सुझाये गये प्रतिगोचरमय पदार्थे के खण्डन में किया है। देश-काल और कार्य कारण भाव आदि पदार्थ वास्तव में आभास हैं, न कि स्वतः सद्वस्तु है। अतः यदि आत्मज्ञान की एकता को स्वतः सद्वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसको छोड़कर अन्य सभी पदार्थ आभास मात्र हैं, ऐसा काण्ट के दर्शन से ही सिद्ध होता है। ऐसे लोग जो आत्मज्ञान की एकता को केवल प्रत्यय मानते हैं और उसे स्वतः सद्वस्तु नहीं कहते उनके अनुसार भी आत्मज्ञान की एकता निरपेक्ष प्रत्यय है। यद्यपि अन्य सभी प्रत्यय उससे अनन्य है, किन्तु वह इन सब से असंग, अनिर्धारित और स्वतंत्र है। अतः गुण, द्रव्य, क्रिया सम्बन्ध, अभाव आदि जितने भी प्रकार के पदार्थ हैं वे

सभी वास्तव में आगन्तुक, व्यभिचारी और अव्यापक प्रत्यय हैं। इसीलिए अद्वैत वेदान्त इन सबको मिथ्या की कोटि में रखता है। इसी प्रकार शंकराचार्य ने कार्य-कारण भाव का विश्लेषण करते हुए सत्कार्यवाद का अर्थ किया है कि उसके अनुसार कार्य कारण से अनन्य है।[९६] अतः स्पष्ट होता है कि सभी पदार्थों का निहितार्थ अनन्यता है।

अनन्यतामूलक अधितर्कशास्त्र

आधुनिक युग में अधितर्कशास्त्र का अत्यधिक विकास हुआ है। इसके अन्तर्गत एक या दो बुनियादी तार्किक सम्बन्धक के द्वारा अनुमान के सभी नियमों का निगमन किया जाता है जिसके फलस्वरूप कई अधितर्कशास्त्र प्रचलित हैं। सर्वप्रथम, संयोजन और निषेध इन दो बुनियादी नियमों का अधितर्कशास्त्र है। दूसरे वियोजन और निषेध का अधितर्कशास्त्र है। तीसरे आपादन और निषेध का अधितर्कशास्त्र है। इसी प्रकार स्ट्रोक या ड्रैगर सम्बन्धक को बुनियादी मानकर उनसे सभी तार्किक नियमों का निगमन किया जाता है।[९७]

आपादन और निषेध पर आधारित अधितर्कशास्त्र अनन्यतामूलक अधितर्कशास्त्र के सन्निकट है। आपादन का नियम बताता है कि यदि अ और ब में आपादन सम्बन्ध है अर्थात् यदि अ, ब को आपादित करता है तो वह वाक्य उन दोनों परिस्थितियों में सत्य है जिनमें हमें ब की सत्यता ज्ञात है और अ सत्य या असत्य हो सकता है। आत्मज्ञान की एकता सत्य है इसे हम ब कह सकते हैं फिर अ जगत् के किसी विषय से सम्बन्धित किसी वाक्य को हम 'अ' कह सकते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए 'गंगा नदी पश्चिम से पूरब की ओर बहती है' यह वाक्य अ है। अब अ बिहार में सत्य है और उत्तराखण्ड में यह वाक्य असत्य है क्योंकि वहाँ गंगा उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है। इतना होने पर भी प्रस्तुत उदाहरण में 'अ' 'ब' को आपादित करता है, यह कथन सत्य है अर्थात् यदि गंगा पश्चिम से पूरब की ओर बहती है तो आत्मा एक और अद्वितीय सत् है। यह पूरा हेतु वाक्य सत्य है।

पुनश्च, अनन्यतामूलक तर्कविधि सिद्ध करती है कि प्रत्येक विषय उस अर्थ में सत् नहीं है जिस अर्थ में आत्मज्ञान की एकता सत्य है क्योंकि वह आगन्तुक, बाधित या व्यभिचारी है।

जबकि आत्मज्ञान की एकता स्वयंसिद्ध अबाधित और अव्यभिचारी है। इस प्रकार निषेध का प्रयोग करके आत्मा से भिन्न जितने विषय या पदार्थ है, उन सबके अस्तित्व का खण्डन किया जाता है। किन्तु इस खण्डन का तात्पर्य यह नहीं है कि विषयों और पदार्थों की कोई उपयोगिता नहीं है। यहाँ उनके पारमार्थिक अस्तित्व का खण्डन इष्ट है, परन्तु उनकी व्यावहारिक उपयोगिता तथा तार्किक उपयोगिता का खण्डन नहीं किया जाता है। लोक व्यवहार और विज्ञान के लिए उनकी उपयोगिता अद्वैत वेदान्त में स्वीकार की गयी है। इसी आधार प्रो० पाण्डेय ने अद्वैतवादी विज्ञान दर्शन को प्रस्तावित किया है। यह विज्ञान दर्शन अनन्यता सम्बन्ध के द्वारा समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों को समन्वित करता है।

प्रो० पाण्डेय ने अपने 'बुद्धिवाद' नामक लेख में सत्यता के जिन आठ स्तरों को गिनाया है, वह सभी अनन्यता प्रस्थान को स्वीकार्य हैं।[१८] 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् किसी शब्द अथवा वाक्य का जो तात्पर्य सन्दर्भ और उपयोगी सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होता है वह सत्य है। इस नियम के अनुसार पारमार्थिक सत्यता को मानते हुए अन्य लौकिक सत्यों की स्वीकृति तर्कतः संभव है।

यद्यपि आपादन और निषेध मिलकर अनन्यता को परिभाषित करते हैं तथापि अनन्यता निश्चित आपादन, समतुल्यता और अभिन्नता के रूप में भी स्वीकार की जाती है। इन तार्किक सम्बन्धों का विवेचन प्रो० पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन' में किया है।[१९]

अनन्यता के सामाजिक और आर्थिक उपयोग

अनन्यता से एकरसता का सिद्धान्त निकलता है क्योंकि वह जीव मात्र को धारण और पोषण करने वाला रस है। जिस आत्मा से सभी जीव अनन्य हैं, वह एक और अभिन्न रूप से सभी जीवों में विद्यमान है। उसी को लेकर समता और समरसता की अवधारणायें की गयी हैं किन्तु यदि इस मूल आधार को हटा दिया जाय तो समता एवं समरसता के प्रत्यय खोखले हो जाएंगे। अतः समतावादियों और समरसतावादियों को एकरसता तथा अनन्यतापूर्वक अपने सिद्धान्त तथा कार्यक्रम को बनाना है अन्यथा उनके सिद्धान्त और कार्यक्रम मात्र पृथग्जन के लिए होंगे और उस 'जन' के लिए न होंगे जो उनकी आत्मा से अनन्य है।[२०]

पुनश्च, महात्मा गांधी ने सर्वोदय सिद्धान्त के द्वारा सार्वजनिक कल्याण को समाज का आदर्श बताया था। यह आदर्श पृथग्जनों के कल्याण और बहुजन के कल्याण को अशुभ सिद्ध करता है। इस अशुभ के द्वारा लोक व्यवहारोच्छेद प्रसंग उत्पन्न होगा। अतएव कुछ व्यक्तियों अथवा वर्गों के कल्याण के निमित्त जो कार्यक्रम आधुनिक पाश्चात्य राजनीति के दूषित प्रभाव के कारण भारतीय समाज में किए जा रहे हैं उनसे लाभ के बजाय भयंकर हानि की संभावना है।

अनन्यता का उपयोग विकास के क्षेत्र में भी करना अपेक्षित है, अन्यथा व्यक्ति का जो आर्थिक और सामाजिक विकास होगा वह समष्टि या समाज से कटा रहेगा। व्यक्ति को अपने समाज से अनन्यता सम्बन्ध द्वारा अपने विकास को अग्रसर करना है। लोक-संग्रह, परम्परा का अनुपालन, इतिहास और भाषा से जुड़ना तथा सांस्कृतिक मूल्यों को उपलब्ध करना आदि अनन्यता की गहरी अनुभूति के लिए आवश्यक है। इसलिए कोरे विकास की अपेक्षा ठोस लोक-निष्ठा और लोक-संग्रह विकास के प्रयोजन हैं। ऐसे लोगों के लिए जो स्थायी रूप से सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति तथा विकास करना चाहते हैं, उनके लिए अनन्यता का सिद्धान्त एक ठोस धरातल और प्रयोजन प्रदान करता है।

आधुनिक युग में पूँजीवादी व्यवस्था में अतिशय वृद्धि हो रही है, जिसके फलस्वरूप अलगाव (Alienation) की समस्या उग्ररूप धारण कर रही है। साम्यवादियों की मान्यता है कि पूँजीवाद व्यक्ति को मात्र एक मशीन बना देता है और उसे उसके द्वारा अर्जित धन से अलग थलग कर देता है। परिणाम यह होता है कि उसे अपने जीविका चलाना दुष्कर हो जाता है जिससे वह न केवल अपने समाज से अलग हो जाता है बल्कि वह स्वयं अपने से अलग हो जाता है और एक अलगावित व्यक्ति या टूटा व्यक्ति बन जाता है। पूँजीवाद समाज में आर्थिक मूल्यों की अपेक्षा अन्य मूल्यों की घोर उपेक्षा हो रही है। इस कारण इस समाज में सौमनस्य, सहृदयता, संवेदनशीलता, करुणा, त्याग, शांति और सुख की प्राप्ति असम्भव हो रही है।

जब तक मनुष्य अपने को समाज से नहीं जोड़ेगा तब तक उसका अलगाव बना रहेगा और वह व्यर्थ में ही अर्थ-संग्रह में सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देगा। एकरसता का सिद्धान्त आर्थिक

मूल्यों को उनकी सीमाओं के अन्तर्गत रखता है तथा त्याग और अपरिग्रह के द्वारा लोक को सन्देश देता है कि लोक का जीवन जिन मूल्यों के लिए है उनकी प्राप्ति अर्थ से नहीं हो सकती है- 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। अद्वैत वेदान्त अर्थ के प्रबन्धन, वितरण ओर प्रयोजन के विशिष्ट सिद्धान्त देता है जिनसे अर्थ के द्वारा व्यक्ति और समाज का परमकल्याण होता है, इस अवस्था को 'रामराज्य' कहा गया है।

अनन्यता का सिद्धान्त राज सत्ता और राजनीति को उतना महत्व नहीं देता है जितना लोक सत्ता और लोकनीति को देता है। प्रत्येक शासक लोक से डरता है। इस कारण वह लोक शक्ति की एक जुटता को तोड़ने का प्रयास करता है तथा वर्गभेद पैदा करके सामाजिक विद्वेष और वैमनस्य को बढ़ाता है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज, लोकनीति, लोकमत और लोकशक्ति से नहीं जुड़ेगा तब तक कुशल राजनीतिज्ञ क्रान्ति और विद्रोह के नाम पर उसे अपना ऐसा कट्टर अनुयायी बना देंगे कि वह अपने समाज से विद्रोह करने लगेगा। अद्वैतवाद जिस सर्वात्मभाव को लोकसेवा और लोक नीति का आधार मानता है वह समाज के स्वस्थ राजनीतिक प्रशासन और संचालन की आधार-शिला है।

अंत में हम कह सकते हैं कि वास्तव में अनन्यता के द्वारा मनुष्य अपने प्रयोजन से मानसिक रूप से जुड़ता है। वह अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए इस कारण लगनपूर्वक मनोयोग से प्रयत्न करता है तथा इस विधि द्वारा प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। जब तक हम आत्मा का चिंतन स्मरण नहीं करते तब तक हमें मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती है। हम चाहे जितना विषय चिन्तन करें वहाँ से हटकर जब हम आत्मा की शरण में जाते हैं तब हमें सत्य, शान्ति, आनन्द मिलता है। यह प्रस्थान सत्य और शिवम् की एकता प्रतिपादित करने के लिए ज्ञान और इच्छा के ऐक्य का मंथन करता है जिसके फलस्वरूप वह द्वैत नष्ट हो जाता है जो काण्ट के शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि के बीच सदा विद्यमान रहता है तथा जो नीतिशास्त्र और तत्वमीमांसा को एक दूसरे से नित्य पृथक सिद्ध कर देता है। पश्चिम में प्लेटो, स्पिनोजा

ओर ब्रैडले ने इच्छा और ज्ञान के ऐक्य पर बल दिया है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि बुद्धि और भावना तभी तत्व तक पहुँच सकती है जब वे आत्मा से अनन्य हो।[२१] अन्यथा जो बुद्धि और भावना आत्मपूर्वक नहीं है वे अज्ञान को ही बढ़ाती है। प्रो० पाण्डेय के शब्दों में जो बुद्धि आत्मा से अनन्य है वह ज्ञान कराती है और जो बुद्धि आत्मा से अनन्य नहीं है वह अज्ञान में ही विचरण करती रहती है।[२२] इस प्रकार अनन्यता प्रस्थान आहार्यज्ञान तथा उससे जनित भेद सिद्धान्त और उन पर आधारित प्राक्कल्पनात्मक निगमन विधि द्वारा विज्ञान-दर्शन भक्ति, लोकव्यवहार, समाज दर्शन आदि की सुव्यवस्थित व्याख्या करता है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का लोकायन दर्शन

प्रो० संगम लाल पाण्डेय का समाज-दर्शन उनके विशिष्ट दार्शनिक विचार से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है, जिसे उन्होंने 'संदर्शन' कहा है। इसे श्रुति, स्मृति, पुराण या दर्शन के रूप में नहीं जाना जा सकता है, अपितु केवल सदर्शन के रूप में ही जाना जा सकता है। प्राच्य-पाश्चात्य की सभी मौलिक दार्शनिक विधाओं का आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात् ही दर्शन को 'संदर्शन' के रूप में उनकी यह परिभाषा बहुआयामी है। जिसमें ज्ञान और चरित्र के गुणों का समावेश है तथा उसके अनेकविध प्रयोग है। उसका एक प्रयोग समाज-सिद्धान्त के क्षेत्र में किया गया है जिसे उन्होंने 'लोकायन'[२३] की संज्ञा दी है।

लोकायन दर्शन की निष्पत्ति ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त से हुई है। यह सूक्त लोकायन वाद का महावाक्य है, जो हमें सह-जीवन, सहानुभूति और सत्कर्म की प्रेरणा देता है और सामाजिक समता, समान मानसिकता, समान चरित्र सौहार्द और सौमनस्य प्राप्त करने का आदेश देता है। यह सूक्त ध्यातव्य है -

> ''संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
> देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
> समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
> समानं मन्त्रमभि मन्त्रेय वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
> समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।''

पुनश्च ईश उपनिषद का प्रथम मंत्र लोकायनवाद का भरत-वाक्य है। वह निम्नलिखित है-

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्।।"

लोकायनवाद वेदान्त सम्मत समाज दर्शन है। इसे लोकात्मवाद भी कहा जाता है क्योंकि लोकात्मा लोकवृत्त में वैसे ही व्याप्त है जैसे रामायण रामवृत्त में। यह एक प्रकार का मानववाद है जिसे अन्य मानववादों से भिन्न करने के लिए लोकात्ममानववाद कहा जाता है। इसमें लोक का सम्प्रत्यय केन्द्रीय महत्व रखता है। लोक वस्तु सत् की अपेक्षा कर्म सत् है। इसी कारण भगवद्गीता में लोक को कर्मबन्धन कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों में जो कर्म है उसी के अन्तर्गत लोकतत्व का अन्तर्भाव करना समीचीन है। वेदान्त के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि लोक ईश्वर के स्वरूप के अन्तर्गत है क्योंकि जो तत्व लोक को धारण करता है उसे ईश्वर या परमात्मा कहना अधिक न्यायोचित है। लोकायन समाज दर्शन के रूप में व्यक्तियों एवं उनके सामाजिक संगठनों की स्वतन्त्रता का एक सा हिमायती है क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र व्यक्तियों की ही स्वतन्त्रता नहीं है अपितु उनके सामाजिक संगठनों की भी स्वतंत्रता है। इसका सम्बन्ध वैदिक आध्यात्मिक स्वराज्य की अवधारणा से भी है। स्वराज्य का बोध रखने वाला ही स्वराट् होता है इसी अवधारणा को गाँधी ने 'स्वराज' के रूप में व्याख्यायित किया। प्रो० के० सी० भट्टाचार्य ने वेदान्त के आदर्शभूत स्वराज की अवधारणा दार्शनिक रूप में की है। लोकायन के अन्तर्गत ये सभी अवधारणायें समाहित हैं, साथ ही इसके अन्तर्गत व्यक्तियों का स्वराज्य, राष्ट्र का पूर्ण स्वराज्य एवं लोक-लघु संगठनों का भी स्वराज्य सम्मिलित है। लोकायन के लिए गाँधी का ग्राम-स्वराज्य एवं प्राचीन यूनान के गणराज्य उतने ही आवश्यक है जितने फ्राँस, जर्मनी, अमेरिका एवं भारत के आधुनिक गणतन्त्र। किन्तु लोकायन दर्शन के अनुसार लघु संगठन ही आदर्श हैं, न कि विशाल संगठन (राष्ट्र एवं राज्य), क्योंकि ये पराश्रयी होते हैं।[३४]"

लोकायनवाद का तात्विक आधार

लोकायनवाद का आधार अध्यात्मवाद है जिसकी पराकाष्ठा अद्वैतवाद में हुई है। उसके अनुसार जैसे मनुष्य मुख्यतः आध्यात्मिक है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् आध्यात्मिक है। तब लोक या समाज भी आध्यात्मिक है क्योंकि लोक या समाज का सम्प्रत्यय जगत् के अन्तर्गत ही आता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अद्वैतवाद कैसे लोकायनवाद का आधार हो सकता है क्योंकि वह मायावादी है जो कहता है कि जगत् मिथ्या है। इसका उत्तर है कि मायावाद का अर्थ जगत् को सत् और असत् से विलक्षण सिद्ध करना है। लोकायनवाद जगत् को असत् नहीं मानता, अपितु ब्रह्म या आत्मा से अभिन्न मानता है। उसका दावा है कि जगत् अथवा समाज को आत्मा से भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता है। कुछ लोग अद्वैतवाद या मायावाद को जगत् तथा समाज का आधार मानने में हिचकते हैं उन्हें यह स्मरण करना चाहिए कि अद्वैतवाद में छः पदार्थ अनादि माने जाते हैं-

'जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेश्वरयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडास्माकमनादयः।।'[२५]

अर्थात् जीव, ईश्वर, विशुद्ध चित्, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या तथा चित्त और अविद्या का सम्बन्ध, ये छः पदार्थ अनादि हैं। इनका जन्म या आदि नहीं है। इनको अनादि मान लेने से अद्वैतवाद जगत् और लोकव्यवहार की युक्ति-युक्त व्याख्या कर देता है। लोक को वह ऐसा व्यावहारिक सत् मानता है जो पारमार्थिक सत् में निहित है। व्यवहार की कल्पना के द्वारा ही परमार्थ अपने को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार यद्यपि एकमात्र सत्ता विशुद्ध चित् की ही है तथापि अन्य पाँच पदार्थों के कारण वह सत्ता अपने को उनमें प्रकाशित करती है। यद्यपि ये पॉचों पदार्थ औपाधिक हैं तथापि उपाधि की कल्पना द्वारा उनके सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं और उन्हें इस कारण वास्तविक मानने में गौरव कल्पना है। फिलहाल लोक वैसे ही सत् है जैसे मनुष्य। ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं।

'लोक' संप्रत्यय का अर्थ

प्रो० पाण्डेय ने 'लोक' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। शब्द कोश में लोक शब्द के दो अर्थ हैं- जगत् और मानव जाति। पहले अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग इहलोक, जीव लोक, परलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक के लिए किया जाता है। जबकि दूसरे अर्थ में लोकनाथ, लोकहित, लोकरीति, लोकनीति के रूप में प्रयोग किया जाता है। तार्किक रूप से यह दोनों अर्थ

एक दूसरे से अपृथक हैं। जगत् परिभाषानुसार मानव जाति का आवास है। पहले अर्थ में यह जगत् के दैशिक एवं कालिक दशा को निरूपित करता है और दूसरा अर्थ इन दशाओं में रहने वाले मानव जाति को स्पष्ट करता है। इस प्रकार लोक शब्द मुख्यतया मानव सत्ता का अर्थ निरूपित करता है। जब इससे भिन्न अर्थ लोक के साथ विशेषण के रूप में जोड़ते हैं जैसे जगत् में 'देवलोक' शब्द में देव को 'लोक' शब्द के अर्थ में प्रयोग करते हैं तो यह देवों के जगत् का अर्थ स्पष्ट करता है। लेकिन इन विशेषणों से युक्त जगत् द्वैतीयक जगत् है। इनमें केवल अर्थ होता है, निर्देश नहीं। प्राथमिक जगत् में अर्थ और निर्देश दोनों होता है।

इस सन्दर्भ में प्रो० पाण्डेय का कहना है कि लोक के दो रूप हैं, जन और समाज। जन वह लोक है जिसमें कोई मूल्य चेतना नहीं रहती है। मूल्य चेतना के न रहने के कारण उसमें कोई द्वन्द्व, कोई संस्था या संगठन और कोई सभ्यता नहीं रहती है। उसमें न व्यक्तिगत चेतना है और न जाति चेतना। इसके विपरीत समाज वह लोक है जिसमें व्यक्ति-चेतना और जाति-चेतना, मूल्य-चेतना, सभ्यता संस्थायें या संगठन और द्वन्द्व है। जन द्वन्द्वातीत और असंगठित समाज है और समाज द्वन्द्वयुक्त तथा संगठित जन है।[२६]

प्रो० पाण्डेय ने लोक शब्द के कई अर्थ किए हैं। प्रथम, काम या लिबिडो से ही लोक (लोग) संचालित होते हैं (काम एवं पुरुषार्थः)। द्वितीयतः कुछ लोग अर्थ से ही संचालित होते है (अर्थ एवं पुरूषार्थः)। तृतीयतः कुछ लोग काम एवं अर्थ दोनों को ही पुरुषार्थ मानते हैं (अर्थ कामौ पुरुषार्थो)। चतुर्थतः महाभारत भाष्यकार व्यास का उद्घोष है- 'धर्मादर्थश्च कामश्च' अर्थात धर्मानुकूल काम एवं अर्थ पुरुषार्थ होते हैं। किन्तु वेदान्त के अनुसार मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष का साधन धर्म है। अर्थ एवं काम धर्मानुकूल होने चाहिए। यही पर प्रो० पाण्डेय लिखते हैं कि लोकायन इनमें कुछ और जोड़ता है। यह वस्तुतः लोक शब्द का विकास है। यहाँ वेदान्त लोकायन की इस अवधारणा को स्वीकार करता है कि लोक के अतिरिक्त कोई अन्य सामाजिक संगठन नहीं है। किन्तु वेदान्त का लोकायन से इस बात पर मतभेद है। जहाँ वेदान्त के अनुसार इस लोक का अधिष्ठान आत्मा है वही लोकायन के अनुसार यह लोक निरधिष्ठान (स्वभाववाद) है। प्राचीन वेदान्त के अनुसार मोक्ष ही मात्र परम पुरुषार्थ है किन्तु लोकायन के अनुसार मोक्ष

का महत्व इस बात में है कि वह धर्म को सशक्त एवं दृढ़ बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करता है। यों तो लोकायन त्रिवर्ग का अतिक्रमण कर मोक्ष को स्वीकार करता है किन्तु मोक्ष किसी भी प्रकार धर्माचरण के लिए हानिकारक नहीं है।[२७] इस प्रकार मोक्ष की लोकपरक व्याख्या करके प्रो० पाण्डेय ने मानववाद तथा इहलोकवाद को उजागर किया है।

प्रो० पाण्डेय ने लोकायन का अर्थ किया है- लोक का अपनी प्राकृतिक स्थिति से पूर्णतः बौद्धिक स्थिति तक विकास एवं पुनः पूर्ण सुव्यवस्थित स्थिति। इस लोक का विकास ऋजुरेखीय न होकर बहुकुंडलित है। इसमें दोनों उत्कर्ष एवं अपकर्ष, सतत् परिवर्तनशील होते हुए भी अपनी-अपनी आन्तरिक सत्ता बनाये रखते हैं जो उनके स्वरूप एवं घटकों का आधार है। यहीं पर समाजदार्शनिक का दायित्व आता है कि वह इसकी परिवर्तनशीलता के माध्यम से इस लोक के आन्तरिक सत्य एवं इसके बहुविध स्वरूपों एवं संसरणशील व्यक्तियों का अध्ययन करें एवं इस लोक के सभी घटकों का पारस्परिक सम्बन्ध बतायें।[२८] अन्यत्र प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि 'स्थिरता एवं परिवर्तनशीलता दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं जिन्हें यह लोक अपने में सन्तुलित रूप से आत्म सात् किये हुए है। इस सन्तुलन हेतु प्रवृत्त होना इस लोक के प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति है एवं यही सभी सामाजिक अभियन्ताओं एवं कार्यकर्ताओं के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व है।[२९]

लोकायनवाद में मनुष्य और समाज की अवधारणा

मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के बारे में लोकायनवाद अद्वैतवादियों एवं ग्रीन द्वारा प्रस्तावित मत को मानता है जिसके अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध अंगिक सम्बन्ध नहीं है। साम्यवादियों ने आंगिक सम्बन्ध का प्रयोग करके मनुष्य की स्वतंत्रता का निराकरण कर दिया और समाज को स्वायत्तता तथा सम्प्रभुता प्रदान की। मनुष्य स्वयं साध्य है। अतः वह समाज का साधन या अंग नहीं हो सकता। मानव स्वतन्त्रता के निराकरण से उसके अस्तित्व को जो खतरा उत्पन्न है उसे दूर करने के लिए पश्चिम में अस्तित्ववाद का उदय हुआ जिसने मानव स्वतंत्रता को परम मूल्य के रूप में स्थापित किया, किन्तु उसने मानव को इतना अधिक महत्व दिया कि

समाज का स्वरूप उससे धूमिल हो गया। प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि अद्वैतवाद और आधुनिक प्रत्ययवाद ने सर्वगत कल्याण या निःश्रेयस को मनुष्य तथा समाज दोनों का प्रयोजन बताया और समाज की स्वायत्तता तथा मानव स्वतंत्रता दोनों की प्रतिरक्षा की। आत्म त्याग के द्वारा आत्मलाभ करना जैसे मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है वैसे ही वह समाज का भी प्रयोजन है। इस प्रयोजन को ही 'लोकात्मा'[३०] की संज्ञा दी जाती है जिसका स्वरूप सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् या निःश्रेयस है।

मनुष्य व्यष्टि है और समाज समष्टि है। दोनों की आत्मा एक ही है। गौडपाद ने आगमशस्त्र में विश्व अथवा जीवात्मा और विराट का जो अभेद स्थापित किया है उसके आधार पर लोकायन वाद में मनुष्य और समाज की आत्मा एक ही मानी जाती है। यद्यपि मनुष्य का अन्तः करण (बुद्धि, अहंकार, चित् और मन) और समाज के लोक बुद्धि, लोकमानस, लोकचित्त और अन्तःकरण और व्यक्तित्व की आधार शिला है, वैसे वह समाज के अन्तः करण की भी प्रागपेक्षा है। मनुष्य और समाज के प्रयोजन में इस आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् और पावनम् दोनों के प्रयोजन या आदर्श हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जिस पुरूष को असंख्य सिर, असंख्य नेत्र और असंख्य पैर वाला कहा गया है वह वास्तव में विराट समाज ही है जो असंख्य मनुष्यों के माध्यम से उनके सिर, नेत्र, पैर आदि से अपना कर्म सम्पादित करता है। इसमें शंका की जा सकती है कि प्रत्येक सामाजिक कर्म का अन्तर्भाव मनुष्यों के कर्म में ही होता है और इस कारण मनुष्यों से पृथक समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। इस शंका का समाधान निम्नलिखित युक्तियों से हो जाता है-

(१) लोक-बुद्धि का प्रमाण

लोक-बुद्धि समाज के अस्तित्व को सिद्ध करती है। लोकबुद्धि से समाज का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य के मानस पर पड़ता है। लोक-बुद्धि पर लोकभाषा, लोकसाहित्य और लोकरीति का प्रभाव रहता है। इनके कारण लोकबुद्धि समाज की सेवा में संलग्न रहती है।

(२) लोक-इच्छा का प्रमाण

ईश्वर के बारे में कहा जाता है- 'पद बिनु चलै, सुनै विनु काना; कर विनु कर्म करै विधि नाना, ईश्वर की ये विशेषताएँ प्रत्यक्षतः समाज पर लागू होती हैं। समाज ऐसे भी कर्म

करता है जिसमें किसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। न चाहते हुए भी मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से समाज की इच्छा का पालन करना चाहता है, उदाहरण के लिए, लोक-लज्जा या लोक-भय से मनुष्य नहीं चाहते हुए भी अपने ऊपर जो संयम रखता है और अपनी वासनाओं पर नियंत्रण स्थापित करता है। उसमें समाज की इच्छा ही कारण है, जिसके फलस्वरूप लोक-मर्यादा का उल्लंघन करने से मनुष्य डरता है।

(३) मूल्यों का प्रमाण

समाज मूल्यों का निकाय है। वह त्याग को भोग से और श्रेय को प्रेय से अधिक मूल्यवान मानता है। भले ही कोई मनुष्य अहिंसक, सत्यवादी या ब्रह्मचर्य को आदर्श मानता है और जो मनुष्य अपंने जीवन में इन मूल्यों का थोड़ा भी पालन करते हैं, उनको वह सम्मान देता है। संक्षेप में मूल्यों के निकाय को 'धर्म कहा गया है और जो धर्म से रहित है उसे 'पशु' कहा गया है। इस प्रकार जो धर्म मनुष्य का लक्षण है, वही समाज का स्वरूप है। अतः समाज की सत्ता धर्म और मूल्यों के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को अनुभवगम्य है। चाणक्य ने समाज के मूल्यात्मक स्वरूप को बतलाते हुए कहा है;

"त्यजेदकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, ह्यात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।"[३]

अर्थात् कुल के हित के लिए उस व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए जो कुल नाशक हो। ग्राम के हित के लिए उसके विरोधी कुल का परित्याग कर देना चाहिए। पुनः यदि कोई ग्राम समाज के विरूद्ध हो तो उस ग्राम का भी परित्याग कर देना चाहिए। अंत में आत्मकल्याण के लिए यदि समाज बाधक हो तो उस समाज का भी त्याग कर देना चाहिए। मूल्यवत्ता आत्मा के कारण है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। सामाजिक दर्शन इसी आत्मा की प्राप्ति के लिए कर्म का विधान करता है।

लोकात्मा का स्वरूप

प्रो० पाण्डेय समाज को ठीक वैसे ही ब्रह्म रूप मानते हैं जैसे मनुष्य को। उनका कहना है कि ब्रह्म व्यष्टि रूप में मनुष्य है और समष्टि रूप में समाज है। भारतीय दर्शन में समाज के

लिए प्रायः 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है और मनुष्य के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रो० पाण्डेय जीव के पारमार्थिक स्वरूप को जैसे 'जीवात्मा' कहतें हैं, वैसे ही समाज के पारमार्थिक स्वरूप को 'लोकात्मा' कहते हैं।[32] जीवात्मा और लोकात्मा, व्यक्ति और समाज क्रमशः व्यष्टिगत ब्रह्म और समष्टिगत ब्रह्म है। उन्होंने अपने मत को गौड़पाद के व्यष्टि-समष्टि के अभेद पर आधारित किया है। जैसे गौड़पाद ने जाग्रत अवस्था में प्राज्ञ और ईश्वर के अभेद को प्रतिपादित किया था वैसे ही प्रो० पाण्डेय ने भी समाज दर्शन, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र में व्यक्ति और समाज के अभेद का प्रतिपादन किया हैं। इस प्रकार व्यक्ति या मनुष्य की अवधारणा में समाज की अवधारणा निहित रहती है।

प्रो० पाण्डेय ने चाणक्य जैसे महान अर्थशास्त्री के समाज के मूल्यात्मक स्वरूप की अवधारणा को नया रूप प्रदान किया। भूमण्डल या सम्पूर्ण मानव समाज, जनपद या राष्ट्र, ग्राम या नगर कुल और व्यक्ति क्रमशः जनपद या राष्ट्र, ग्राम या नगर कुल और व्यक्ति क्रमशः महत्तम से लघुत्तम आदर्श हैं और प्रत्येक में आत्मलाभ होता है। इस आत्मलाभ को दृढ़तर करने के लिए लघुत्तम आदर्श और उससे महान आदर्श में यदि विरोध भी दीख पड़े तो महान आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। प्रो० पाण्डेय कहते हैं -

> "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
> नीवृतोऽर्थेत्वजेत ग्रामं देशस्यार्थे च नीवृतः।।
> न च देशं न तद्भक्तिं कस्याप्यर्थे क्वचित्यजेत।
> यथा देवे परा भक्तिस्थता देशेऽपि सामता।।"[33]

अर्थात् व्यक्ति, कुल, ग्राम, जनपद (नीवृत) और देश क्रमशः उच्चतर हैं और उनके तारतम्य पर सामाजिक मूल्यों का एक क्रम निश्चित होता है जिसके अनुसार किसी एक व्यक्ति का हित, कुलहित, ग्राम हित, जनपद हित और देशहित क्रमशः उच्चतर सामाजिक मूल्य है। प्रो० पाण्डेय देशहित और देशभक्ति को भगवद्भक्ति के समकक्ष मानते हैं और उससे बड़ा कोई अन्य सामाजिक मूल्य नहीं मानते हैं। मूल्यों के इस तारतम्य से समाज के मूल्यात्मक स्वरूप को समझा जा सकता है, उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रो० पाण्डेय देश के समाज की चार

शक्तियों को रेखांकित करते हैं। ये शक्तियाँ हैं- जलशक्ति, भाषाशक्ति, इतिहास व भूगोल की शक्ति और संस्कृति शक्ति।[34] इन शक्तियों से देश के समाज की अवधारणा में सहायता मिलती है।

प्रो० पाण्डेय ने कर्त्तव्य और अधिकार, नैतिकता और विधि, न्याय और करुणा आदि की दृष्टियों से सामाजिक बन्धनों तथा सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि स्वतन्त्रता, समता तथा विश्वबन्धुत्व की उपलब्धि समाज में ही होती है। समाज और उसकी परम्परा देश-प्रेम को परम पावन मूल्य मानते हैं। सामाजिक सम्बन्ध और संगठन को पावन कहने का तात्पर्य यह है कि वे आध्यात्मिक हैं। यद्यपि वे मृत्युलोक और भूमण्डल में सम्पन्न होते हैं तथापि उनके बीज और फल मृत्युलोक और भूमण्डल से भी परे हैं। हिन्दू धर्म ने उन सभी को पुनर्जन्मवाद और अवतारवाद से जोड़ रखा है।

प्रो० पाण्डेय सामाजिक सम्बन्धों के निकाय को लोकायन मानते हैं। वे कहते हैं कि लोकायन की धार्मिक अभिव्यक्ति रामायण में हुई है। विशेष रूप से तुलसीदास के रामचरित मानस में। इसका प्रमुख प्रयोजन पुत्र, भाई, पत्नी, राजा, प्रजा आदि के आदर्श चरित्रों का वर्णन है। वास्तव में यदि रामायण को इतिहास काव्य और मिथक से भिन्न किया जाय तो उसका तात्विक रूप लोकायन होगा। लोकतत्व जिस प्रकार अपने को समस्त सामाजिक सम्बन्धों में अभिव्यक्त करता है वह तत्वतः लोकायन है। इससे सिद्ध है कि समाज आध्यात्मिक है और उसके संस्थाओं की आधारशिला लोकात्मा के रूप में परमात्मा का स्वरूप है। प्रो० पाण्डेय के अनुसार परमात्मा के स्वरूप को हृदयंगम करना उसका रसास्वादन करना अद्वैत अनुभूति है। इसको संयोग, पृथकत्व न्याय से अद्वैत सम्मत बताते हुए वे कहते हैं कि- कर्त्तव्य भावना से कार्य में प्रवृत्ति होना, उसको सम्पन्न करके उससे निवृत्त होना क्रमशः कर्म से संयोग और कर्म से पृथकत्व है। इस प्रक्रिया से अद्वैत अनुभूति ठीक वैसे ही होती है जैसे अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली से। अतः प्रो० पाण्डेय कर्म से साक्षात् और अपरोक्ष अद्वैतानुभूति प्राप्त करने की बात करते हैं जबकि प्राचीन अद्वैत वेदान्त में कर्म, भक्ति और ज्ञान को कर्म से अद्वैतानुभूति में

उपकारक माना गया था और कर्म को केवल परोक्ष रूप से मोक्ष में उपयोगी माना गया था। उनके अनुसार जब कर्म का संपादन निष्काम भाव से होता है तो कर्म परम पावन हो जाता है तथा परम सत् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो जाता है।

लोकायन और मूल्यवाद

भारत की परम्परा, संस्कृति, धर्म, दर्शन, भाषा, जाति, लोग लोकायन दर्शन को प्रकट करते हैं। लोकायन नैतिक व्यवस्था है, समाज व्यवस्था है, मूल्यों का धरोहर है। हम इन मूल्यों को जन-मानस में पाते हैं। इसे त्याग देने पर पास क्या बच पाता है? प्रो० पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि लोकायन दर्शन में समाज को व्यक्तियों का संगठन कहा गया है। व्यक्ति भाषा, संस्कृति तथा रीति-रिवाजों से बँधा हुआ है। वह समाज पर बल देता है। समाज का ही दूसरा नाम लोकायन है। लोकायन में व्यक्ति व्यक्ति के समूह, समूह में छोटे से छोटे समूहों की रक्षा स्वतंत्रता रहती है। इसमें एक नैतिक व्यवस्था होती है। प्रो० पाण्डेय ने मूल्यवादी धारणा को ध्यान में रखते हुए कहा है कि 'लोकायन का विश्वास है कि यह लोक ही सभी मूल्यों की नींव तथा आधारभूमि है। इन मूल्यों में भी एक व्यवस्था है।'[35] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- यही चार पुरुषार्थ हैं। लोकमानस में ये ही मूल्य हैं। इन मूल्यों की प्राप्ति के लिए लोकमानस प्रयास करता है। लोकायन दर्शन इन मूल्यों की व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के साथ जोड़ता है। जहाँ लोकायत अर्थ और काम को मानता है और उसे ही प्राप्त करने के लिए नीति-अनीति को महत्व नहीं देता, वहाँ लोकायन अर्थ और काम को धर्म के द्वारा अर्थात् एक नैतिक व्यवस्था द्वारा प्राप्त करना चाहता है। लोकायन में समाज को पहले रखा गया है और यह सिद्ध किया गया है कि समाज व्यक्ति से हटकर कुछ नहीं है। समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है। अतः समाज और व्यक्ति ऐसे समाज दर्शन की स्थापना करते हैं जहाँ मूल्यों की प्राप्ति हो सकती है।

पुनश्च लोकायन में धर्म को अर्थ से अच्छा और ऊँचा स्थान दिया गया है। इसी तरह अर्थ काम की अपेक्षा उच्चतर और बेहतर मूल्य है। पुनः लोकायन दर्शन के अनुसार 'काम' का इस सीमा तक अनुसरण न किया जाय कि वह अर्थ तथा धर्म के लिए हानिकारक सिद्ध हो और इसी तरह 'अर्थ' की कामना भी उस सीमा तक नहीं की जानी चाहिए जो काम और धर्म के

लिए बाधा सिद्ध हो। पुनः वह धर्म या नैतिक मूल्य ही है जो अर्थ तथा काम के मूल्य को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होता है। धर्म के नियंत्रण में अर्थ और काम के मूल्य को अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है बिना धर्म के सामाजिक व्यवस्था नहीं रह सकती। धर्म अर्थ और काम से नियमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि मूल्यों की तारतम्यता में धर्म, सबसे ऊपर है। इसी से अन्य मूल्यों का होना सम्भव है। महाभारत में भी इन सभी मूल्यों के संतुलित सेवन पर ही वल दिया गया है और कहा गया है कि विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे उचित समय में धर्म, अर्थ और काम- तीनों का सेवन करें-

> ''धर्म चार्थ कामं च यथावद् वदतांवर।
> विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत् पण्डितः।।''[३६]

लोकायत दर्शन अथवा मार्क्स तथा फ्रायड ने अर्थ और काम को क्रमशः अपने चिंतन का आधार बनाया है। मार्क्स ने लोक की प्रेरक शक्ति को अर्थ में ढूंढा है और फ्रायड ने काम में। इनका निष्कर्ष एकांगी है। लोकायन दर्शन के अनुसार अर्थ और काम से भी बढ़कर शक्तिशाली प्रेरक तत्व धर्म है।

प्रो० पाण्डेय ने लोकायन दर्शन के अनुसार धर्म को मूल्यों का नियंत्रक माना है और परम मूल्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु धर्म के नियंत्रण में अन्य मूल्यों को रखते हुए इसी परम मूल्य की ओर सभी को बढ़ना है। इसी को प्रो० पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'गांधी का दर्शन' में इस प्रकार रखा है- ''मनुष्य का कार्य सिर्फ इतना है कि वह आत्माद्वैत को समझे और इसे परम अर्थ या मूल्य मानें। इसका ईशन् या शासन अर्थात् ईश्वरत्व वह जगत् पर प्रकृति पर स्थापित करे। यही मुख्य दर्शन है। इस कार्य में पता चलता है कि अनेक गौण मूल्य हैं, जो हमें इस मुख्य मूल्य की ओर ले चलते हैं। इन मूल्यों का आत्मा के साथ अभेद और अनिवारणीय सम्बन्ध है। आत्मा में ही स्थित रहकर, स्वस्थ रहकर प्रत्येक कार्य इसी परम मूल्य की दृष्टि से करने से, व्यवहार की दृष्टि से करने से व्यवहार की दृष्टि में भी सफलता मिलती है और आंतरिक शान्ति भी प्राप्त होती है। यही आंतरिक शान्ति निःश्रेयस या मोक्ष है और व्यावहारिक सफलता अभ्युदय है। अतः नीति और धर्म दोनों का इसमें समन्वय हो जाता है।''[३७]

यहाँ प्रश्न उठता है कि पुरुषार्थ की पुरुषार्थता किसमें है- उसकी परमार्थता में या उसकी वर्गाकारता में? वर्गाकार होने से वह वास्तव में एक घन या पुंज होगा और उसके अन्दर एक तारतम्य होगा। इस रूप में उसको मानने से श्रेय के प्रत्यय में सदैव दो प्रयोजनों में से किसी एक को वरीयता देने की समस्या रहेगी। पुनश्च यदि पुरुषार्थ वास्तव में परमार्थ है तो उसका रूप निरपेक्ष होगा, एकरस होगा। इस दृष्टि से कुछ लोग मोक्ष को पुरुषार्थ मानते हैं और अन्य पुरुषार्थों को केवल गौण रूप से पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थों के विकास की कहानी लम्बी है। प्रारम्भ में अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की कल्पना की गयी। प्रकारान्तर से 'भक्ति' को पाँचवा पुरुषार्थ माना गया। पुनश्च प्रो० पाण्डेय ने इस पाँचो पुरुषार्थों में 'शक्ति' को भी एक पुरुषार्थ जोड़कर कुल छः पुरुषार्थों की चर्चा की है यह उनकी मौलिक कल्पना है।[३८]

प्रो० पाण्डेय ने वेदान्त दर्शन को पुरुषार्थ दर्शन का आधार मानते हुए, पुरुष के निम्नलिखित छः रूपों का उल्लेख किया है -

१. अन्नमय कोश

२. प्राणमय कोश

३. मनोमय कोश

४. विज्ञानमय कोश

५. आनन्दमय कोश

६. कोशातीत आत्मा

इन छः रूपों के अनुसार छः पुरुषार्थ हैं। अन्नमय कोश का रूप- 'अर्थ' है, प्राणमय कोश का रूप- 'शक्ति' हे, मनोमय कोश का रूप- 'काम' है, विज्ञानमय कोश का रूप- 'धर्म' है, आनन्दमय कोश का रूप- 'भक्ति' है और कोशातीत आत्मा का रूप- 'मोक्ष' है। प्रत्येक मानव में चेतना के उपर्युक्त छः रूप है। जो मनुष्य जिस रूप में विशेषतः आसक्त है उसके लिए उसका प्रयोजन वही है जो उसका रूप है।

अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश के रूप मुख्यतः व्यष्टिगत और समष्टिगत हैं। इसलिए इनके इन रूपों के अनुसार पुरुषार्थों के भी

व्यष्टिगत और समष्टिगत प्रकार हो जाते हैं। फलतः अर्थ, शक्ति, काम, धर्म तथा भक्ति के व्यष्टिगत और समष्टिगत प्रकार हैं। अर्थ के समष्टिगत प्रकार को सामाजिक समृद्धि, शक्ति के समष्टिगत प्रकार को राज्य सत्ता, काम के समष्टिगत प्रकार को कला, धर्म के समष्टिगत प्रकार को धर्मसंघ और भक्ति के समष्टिगत प्रकार को सत्संग कहा जा सकता है। मोक्ष समष्टि और व्यष्टि के द्वन्द्व से मुक्त है। वह सभी अन्य पुरुषार्थों का मूल है वह स्वतः व्यष्टि और समष्टि से परे है क्योंकि वह द्वन्द्वातीत अवस्था है। फिर भी एक मुक्ति और सर्वमुक्ति की कल्पनायें की गयी हैं जो वास्तव में व्यष्टिगत भक्ति तथा समष्टिगत भक्ति के ही प्रकार हैं।

प्रो० पाण्डेय ने मोक्ष की पुरुषार्थ-मूलकता को स्वतंत्रता कहा है। स्वतंत्रता कोई एकल मूल्य ही नहीं है किन्तु समस्त मूल्यों का आधार और अन्त है। स्वतंत्रता से ही मूल्यों का आविर्भाव होता है, स्वतंत्रता में ही मूल्य स्थिर रहते हैं और स्वतंत्रता में ही समस्त मूल्यों का पर्यवसान होता है।[३६] स्वतंत्रता का लक्षण वही है जो उपनिषदों में ब्रह्म का लक्षण है। इस कारण कतिपय लोग स्वतंत्रता को ब्रह्म मानते हैं। आधुनिक शब्दावली में इस मान्यता का अर्थ है कि स्वतंत्रता असीम है और मानवीय व्यापारों में व्याप्त है। इस प्रकार मोक्षवाद समस्त मूल्यमीमांसा का सार है। अतएव मोक्ष का निराकरण करना मूल्यबोध का ही निराकरण करना है और मूल्यवोध का निराकरण करना मूल्यबोध का ही निराकरण करना है और मूल्यबोध का चरम विकास करना ही मोक्ष को प्राप्त करना है। प्रो० पाण्डेय का मत है कि आत्म नियमन या शासन ही वह प्राथमिक दशा है जिससे सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों को प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में यही वेदान्तिक आदर्श मुख्य कारण रहा है। कठोपनिषद् के 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्'[४०] उपदेश को स्वामी विवेकानन्द द्वारा बड़े ही उपयुक्त समय पर भारतीयों को जागृत करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। वेदान्त में व्यक्तिगत मूल्यों की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों पर अधिक बल दिया गया है। अद्वेष, मैत्री, परोपकारिता, सहनशीलता अपरिग्रह और समता आदि वेदान्तिक सन्तों के मुख्य गुण हैं। इन गुणों से समग्र रूप से सामाजिक कल्याण और शुभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है।

इस प्रकार वेदान्त के अनुसार शान्ति और समानता मानव जीवन के श्रेष्ठ मूल्य हैं। जो व्यक्ति वेदान्तिक आदर्शों को जीवन में उतारता है, वह छः दैवी गुणों से सम्पन्न होता है। वे गुण

हैं ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति या प्रभुत्व, बल, वीर्य या अभय और पूर्ण प्रकाश अर्थात् वह प्रकाश जिसे किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है। सामाजिक नैतिकता के लिए इन मूल्यों को बिना तपस्या किए नहीं प्राप्त किया जा सकता और यह सामाजिक नैतिकता तीन दायित्वों की पूर्ति करने पर ही पूर्ण हो सकती हैं। ये दायित्व हैं- पितृ ऋण अर्थात् पिता के प्रति दायित्व का निर्वाह, गुरु ऋण अर्थात् गुरु के प्रति दायित्व की पूर्ति और देव ऋण अर्थात् प्रकृति की शक्तियों के प्रति दायित्व का निर्वाह। इस संदर्भ में प्रो० पाण्डेय का कहना है- ''वेदान्त के अनुसार इन कर्त्तव्यों के निर्वाह से कर्त्ता की चित्तशुद्धि होती है और इससे ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव बढ़ता है, ईश्वर प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इससे ही सर्वोच्च मूल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।''[61]

सामाजिक और राजनीतिक मूल्य

प्रो० पाण्डेय के अनुसार लोकसंग्रह सामाजिक मूल्य हैं और वर्ग भेद सामाजिक अवमूल्य (Disvalue) हैं।[62] अतः वर्ग संघर्ष वर्गों के कलह और अन्तर्द्वन्द्व, अपराध की वृद्धि कर्तव्य पालन का ह्रास, स्वार्थवाद की वृद्धि आदि सामाजिक दुर्गण हैं। इनका जितना अधिक उन्मूलन हो उतना ही अधिक लोकसंग्रह संभव है।

लोकायन वाद सामाजिक संस्थाओं की रक्षा और प्रगति को प्रमुख मूल्य मानता है। कुल, ग्राम, जनपद, राष्ट्र राज्य, भाषा, शिक्षा आदि मूल्यवान संस्थाये हैं जिनसे मनुष्य का जीवन समृद्ध होता है। इन मूल्यों पर बल देने के लिए ही संस्थाओं को देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। कुल देवता, ग्राम देवता, वाणी देवता, राष्ट्रदेवता आदि ऐसे प्रयोग हैं जो इन सामाजिक मूल्यों को पवित्र बनाने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार माता पिता, आचार्य अतिथि आदि को देवता के रूप में आदरणीय माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ये केवल व्यक्ति नहीं अपितु सामाजिक मूल्यों के प्रतीक हैं। राज्य को भी जब देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है तब वास्तव में उसको राज्य का प्रतीक माना जाता है। यदि राजा शुभेच्छा का प्रतीक है तो वह देवता है और यदि वह अधर्म तथा अनीति का प्रतीक है तो उसे राक्षस कहा जाता है। इस प्रकार सामाजिक संस्थाओं के अध्यक्षों को सामाजिक शुभेच्छा के प्रतीक होने का प्रयास करना चाहिए।

समाज में प्रत्येक मनुष्य को संस्थागत मूल्यों को उपलब्ध करने की इच्छा रहती है, अतएव उसे अपने स्वार्थ को सदैव परार्थ से समन्वय योग्य बनाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा न करने पर जो स्वार्थवाद व्यवहार में आता है वह आत्मघाती होता है, क्योंकि यदि समाज में मनुष्य स्वार्थी हों तो किसी का स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वे आपस में लड़कर नष्ट हो जाएंगे। इसी को 'सुन्दोपसुन्द न्याय' कहा गया है। लोकायन वाद देश प्रेम और राष्ट्रीयता को साध्य मूल्य मानता है और उसे कभी साधन नहीं बनाता। इस प्रसंग में विभीषण का उदाहरण शिक्षाप्रद है।

राजनीतिक मूल्यों में राजनीतिक सत्ता का अनुभव प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी रूप में होना चाहिए। उसे यह अनुभव होना चाहिए कि वह अपने देश में रहता है, जिस राज्य में वह रहता है वह राज्य उसका संरक्षक है। राज्य पर जिस दल का आधिपत्य है वह उसकी सरकार है, चाहे उसने उसको स्थापित होने के लिए उसके पक्ष में मत दिया हो या न दिया हो। यह तभी हो सकता है जब सरकारें निष्पक्ष और सार्वजनिक कल्याण के प्रति समर्पित हों। यदि वे सामान्य श्रेय छोड़कर किसी वर्ग विशेष का हित करने लगती हैं तो वे जनता के राजनीतिक शक्ति के अनुभव से वंचित कर देती हैं। राजनीतिक दल अपने सदस्यों को सत्ता का भागीदार बनाकर जनता का उपकार करते हैं। किन्तु जब राजनीतिक दलों का संगठन सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों के लिए नहीं होता, अपितु कुछ वर्ग विशेष के हित में होता है तब ऐसे राजनीतिक दल अपराधी प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं और उनसे सामाजिक शान्ति और व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो जाता है। अतः लोकायनवाद जिस लोकतंत्रवाद को अग्रसर करता है उसमें ऐसे राजनीतिक दलों की आवश्यकता है जो देश प्रेम और लोक संग्रह के लिए राजनीतिक शक्ति का यथासंभव जनता में वितरण करें और किसी एक व्यक्ति में राजनीतिक शक्ति पूर्णतया सीमित न हो। दूसरे शब्दों में राजनीतिक शक्ति का जितना अधिक विकेन्द्रीकरण हो उतना ही अधिक सामान्य जनता को राजनीतिक सत्ता का लाभ मिलता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राष्ट्र-राज्य की सम्प्रभुता और शक्ति इस विकेन्द्रीकरण से आहत हो। वास्तव में राष्ट्र-राज्य जितना अधिक शक्तिशाली होगा उतना ही अधिक वह सामान्य जनता का कल्याण कर सकता है और विश्व में राष्ट्र की अस्मिता की स्थापित कर सकता है।

लोकायन पूँजीवाद और साम्यवाद का विकल्प

लोकायनवाद या लोकात्मवाद वह समाज दर्शन है जो पूँजीवाद और साम्यवाद का विकल्प है। वह सामान्यतः भारतीय दर्शन से और विशेषतः वेदान्त से निकला है। अतः उसे वेदान्तवादी समाज दर्शन कहा जाता है। वह अर्थ को न तो परम पुरुषार्थ मानता है और न तो सभी पुरुषार्थों का उत्स। विपरीततः पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों अर्थ को परम पुरुषार्थ मानते हैं और वे मुख्यतः आर्थिक सिद्धान्त हैं। पूँजीवाद सिद्धान्ततः प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है, किन्तु व्यवहारतः वह बड़ी कम्पनियों अथवा बहुराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों को बढ़ावा देता है जो शक्ति और समृद्धि में राज्य की समानता करते हैं। उसके इस व्यवहार के कारण समाज में भयंकर आर्थिक विषमता पैदा होती है तथा समाज का धन कुछ व्यक्तियों के ही अधिकार में आ जाता है और शेष बृहत् समाज भयंकर आर्थिक संकट में रहता है। साम्यवाद किसी व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता तथा राज्य को ही सभी आर्थिक अधिकार प्रदान करता है। इस कारण जिन व्यक्तियों का राज्य पर सर्वाधिकार होता है वे राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति का उपयोग अपने लिये करते हैं। साम्यवादी शासन में व्यक्तियों को खाना, कपड़ा और दवा आदि के लिये मोहताज होना पड़ता है। सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक स्थिति से साम्यवादी शासन कोई लाभ नहीं उठाता। वह अपने राज्य में इतना अधिक नियंत्रण रखता है कि बाह्य विश्व से उसका कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं रह जाता। उसका समाज आर्थिक दृष्टि से बंद समाज है, जबकि पूँजीवादी समाज खुला समाज है। किन्तु खुलापन और बन्दी दोनों अतिवाद हैं, कारण दोनों त्याज्य हैं।

प्रो० पाण्डेय का मत है कि लोकायनवाद लोक को आर्थिक नियंत्रण का अधिकार देता है, न कि राज्य या बड़ी कम्पनियों को। वह प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता प्रदान करता है, किन्तु यथासंभव आर्थिक समानता के लिये वह लोकसंग्रह, लोकचेतना और लोकरीति के द्वारा समाज के किसी वर्ग में पूँजी के एकत्र होने को रोकता है। वह ऐसे राज्य को स्थापित करता है जो न्यायोचित कराधान द्वारा राष्ट्रीय पूँजी के समान वितरण की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार

वह लोक को इतना जागरूक बनाता है कि वह स्वेच्छा से यज्ञ, दान, इष्टापूर्त और त्याग द्वारा अपनी पूँजी को लोक में खर्च करता रहता है। वह आर्थिक स्वतंत्रता को धार्मिक स्वतंत्रता तथा नैतिक विवेक से नियमित करता है।[63] जब भारत स्वतंत्र हुआ और भारतीय संविधान निर्मित हुआ, तब इस संविधान पर भारतीय संस्कृति और दर्शन का प्रभाव पड़ा जिसके कारण भारत एक ऐसा गणराज्य हुआ जो पूँजीवादी लोकतंत्र और साम्यवाद दोनों से निरपेक्ष है। वह विश्व की तीसरी शक्ति के रूप में उभरा। उसके प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने गुट-निरपेक्षता की नीति द्वारा विश्व के ऐसे राष्ट्रों को एक मंच पर स्थापित किया जो साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों का विरोध करते थे। यद्यपि इस मंच का मुख्य नारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा सभी राष्ट्रों का सह-अस्तित्व था, तथापि उसका प्रयोजन एक ऐसे राज्य की स्थापना करना था, जिसमें लोकतंत्र और साम्यवाद दोनों के सद्‌गुण तो हों, किन्तु जिसमें दोनों के दुर्गुण न हों। संक्षेप में, स्वतंत्रता, समता और विश्व-बंधुत्व की स्थापना करना उसका मुख्य प्रयोजन था। इस प्रयोजन को चरितार्थ करने के लिए कहीं समाजवाद की कल्पना की गई तो भारत में लोकायनवाद की। प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि भारत में जिस समाजवाद की कल्पना की गई उसमें लोकायनवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि उसका आधार भौतिकवाद अथवा लोकायनवाद न होकर वह अध्यात्मवाद है जिसका प्रचार-प्रसार वैदिक ऋषियों, जैन मुनियों, बौद्धों, सिद्धों, योगियों, सन्तों और भक्तों ने निरन्तर इतना अधिक किया है कि वह भारत की प्रमुख पहचान बन गया है। भारतीय लोकमानस इस कारण पूर्णतया आध्यात्मिक है। समाज का आधार मनुष्य की सहानुभूति, करुणा, दया आदि प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, अपितु ईश्वर का स्वरूप है, क्योंकि ईश्वर लोकरक्षा या संग्रह के लिये समय-समय पर अवतार लेता रहता है। वह उन सभी मनुष्यों के हृदय में विराजमान है जिन्हें समाज का सदस्य कहा जाता है। नानाजीववाद का आधार ईश्वर ही है। व्यक्ति की आत्मा जीवात्मा है, समाज की आत्मा वहिरात्मा है और ईश्वर परमात्मा है। अथवा व्यक्ति की आत्मा व्यष्टि आत्मा है और समाज की आत्मा समष्टि आत्मा है। दोनों को लोकात्मा का जाता है, क्योंकि लोक शब्द का प्रयोग व्यष्टि और समष्टि दोनों अर्थों में होता है। लोकात्मा ही मानव-समाज का मूल आधार है।[64]

अतएव लोकायनवाद साम्यवाद से भिन्न है। भारतीय साम्यवादियों ने अपने मत को चार्वाक दर्शन, आजीवन दर्शन और लोकायत दर्शन पर आधारित किया। डा० देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने लोकायत नामक एक ग्रंथ लिखकर प्राचीन चार्वाक दर्शन का विकास किया और यह सिद्ध किया कि लोकायतवाद अर्थ और काम दोनों को पुरुषार्थ मानने के कारण लोकोपयोगी दर्शन है। प्रो० एनीकीव ने सिद्ध किया कि भौतिकवाद ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मुख्यधारा है। इन दोनों विद्वानों ने इस तथ्य को भुला दिया कि जैन, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों ने भौतिकवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक पदार्थो से नहीं दिखायी जा सकती, क्योंकि उत्पत्ति कार्य-कारण भाव पर निर्भर है जिसकी अवधारणा में चैतन्य की पूर्व भूमिका है। अतः चैतन्य की उत्पत्ति दिखाने में चक्रक दोष है। बिना चैतन्य के उत्पत्ति मात्र अचिन्त्य है और बिना चैतन्य की उत्पत्ति के भौतिकवाद सम्भव नहीं है। अतः भौतिकवाद में चक्रक दोष है। पुनश्च, शंकराचार्य का कहना है कि विषय अपने को विषयीकृत नहीं कर सकता है, क्योंकि अपने ऊपर अपने द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती है। विषय को विषयीकृत बनाने वाला चैतन्य तत्व है। इस कारण वह देह से ही नहीं, किन्तु समस्त विषयों से भिन्न है। वह देही या शारीरक है। देह के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता। वह अजर और अमर है। इस प्रकार भौतिकवाद असत्य सिद्धांत है। जिन साम्यवादियों ने उसके आधार पर साम्यवाद को स्थापित करने का प्रयास किया है उनका सारा प्रयास असत्य होने के कारण असफल है।

पूँजीवादियों ने भी भारतीय समाज को विकृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को स्वार्थी और व्यक्तिवादी बना दिया। अपने विचारधारा को उन्होंने तंत्रशास्त्र पर आधारित किया और उस साधु समाज को भी भोगवादी और सुविधावादी बना दिया जो बैराग्य के लिए विश्व-विख्यात था। परिणामतः अनेक ऐसे साधु वेषधारी स्वामी प्रादुर्भूत हुए जो अपने को भगवान कहने लगे। उनमें से किसी ने सम्भोग से समाधि के सिद्धान्त का प्रचार किया तथा मुक्त यौन संबंध के लिए आश्रम स्थापित किया, किसी ने भावातीत ध्यान द्वारा उड्डीयन की शक्ति प्राप्त करने की शिक्षा दी और जब किसी को उड़ना नहीं आया तब ऐसे योगी के विरुद्ध

विश्व के कई देशों में मुकदमें दायर किये गये। किसी स्वामी ने तांत्रिक पूजा द्वारा राज्य-प्राप्ति और धन-प्राप्ति की बात कही और धोखा-धड़ी तथा जाल-साजी से अपने शिष्यों को लाभ पहुँचाया। किन्तु ऐसे स्वामियों का भी पर्दाफाश हुआ और उन्हें जेल में जाना पड़ा। संक्षेप में, इन स्वामियों ने जिस उपभोगवाद का प्रचार किया वह आत्मघाती सिद्ध हुआ और उनको ही ले डूबा।

लोकायनवाद जैसे साम्यवाद का विरोधी है वैसे ही वह पूँजीवाद का भी निराकरण करता है। वह सदाचार को महत्व देता है और मानता है कि सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार सत्य और ऋत् है। असत्य, अनृत, व्यभिचार, हिंसा, तस्करी और पूँजी-संग्रह का जितना उन्मूलन हो उतना ही अधिक समाज की सत्यता बढ़ती है। इस प्रसंग में लोकायनवाद महात्मा गांधी के एकादश व्रतों को अग्रसर करता है और उन्हें सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला मानता है। ये व्रत हैं: सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्वाद, शरीर-श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यतानिवारण, सर्वधर्मसमभाव और अभय। वास्तव में ये ग्यारह सद्गुण सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के सार हैं। इनमें से प्रत्येक का सामाजिक आयाम है, जिसकी खोज करने के कारण महात्मा गांधी विश्व के श्रेष्ठ नैतिक और सामाजिक दार्शनिक हो गये हैं। उनका विचार साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों का विरोधी है और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करता है जिसमें शोषण, भय, संत्रास, पाखण्ड, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि दुर्गुणों का पूर्ण अभाव हो।

लोकायन – समाजवाद और मानववाद

समाजवाद का प्रचार सबसे अधिक कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायियों ने किया। उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर ऐतिहासिक भौतिकवाद को सिद्ध किया जिसके अनुसार मानव समाज का विकास क्रमशः आदिम साम्यवाद, दासता, सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद और वैज्ञानिक साम्यवाद की व्यवस्थाओं में होता है।[४५] इस समय जो व्यवस्था काल-चक्रानुसार चल रही है वह समाजवाद की व्यवस्था है, किन्तु वह व्यवस्था संक्रातिकालीन है जिसका निरोध करके वैज्ञानिक साम्यवाद की व्यवस्था स्थापित होगी। मार्क्स के इस सिद्धान्त में निम्नलिखित तथ्य महत्वपूर्ण हैं :–

१. समाज-परिवर्तन का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जो हेगल के द्वन्द्व-न्याय पर आधारित है। इसके अनुसार निषेध और निषेध का निषेध समाज परिवर्तन के कारक हैं। आदिम साम्यवाद का निषेध दासता है जिसका पुनः निषेध करके सामन्तवाद स्थापित होता है। सामंतवाद का निषेध पूँजीवाद है जिसका निषध या उन्मूलन करके समाजवाद स्थापित होता है। अंत में, समाजवाद का निषेध करके वैज्ञानिक साम्यवाद प्रकट होता है जिसमें राज्य-संस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का उन्मूलन हो जाता है।

२. साम्यवाद लोकतंत्र का विकल्प है। वह सभी मनुष्यों को समान अधिकार नहीं देता, अपितु उन्हें विकास करने के लिए समान अवसर देता है। उसको कार्यान्वित करने के लिए वह व्यक्तिगत सम्पत्ति, आभिजात्य वर्ग के विशेषाधिकारों का उन्मूलन करता है। वह राष्ट्रीयकरण द्वारा अर्थोपार्जन के सभी साधनों को राज्य में निहित करता है और सभी नागरिकों के भोजन, चिकित्सा, शिक्षा और रोजी की समान रूप से सरकारी व्यवस्था करता है।

३. राज्य के अतिरिक्त परिवार, सभ्य समाज, जाति, राष्ट्रीयता, धर्म आदि जितनी संस्थाएं हैं उनका वह उन्मूलन करता है। इस प्रक्रिया में वह राज्य को सर्वोच्च सैन्य संगठन के रूप में स्थापित करता है और सेना के बल पर शासन करता है।

४. ऐतिहासिकता या कालचक्र सामाजिक परिवर्तन का कारक है। हेगल ने सिद्ध किया था कि जो ऐतिहासिक तथ्य है वह युक्ति-युक्त है और जो विचार युक्ति-युक्त है वही ऐतिहासिक तथ्य होता है। समाजवाद युक्ति-युक्त मत है, अतः वह ऐतिहासिक मत है। जब उसकी स्थापना हो जाती है तब वह और अधिक युक्ति-युक्त हो जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिकता विश्व-बुद्धि का या विराट मानवता की योजना का स्वाभाविक परिणाम है। इतिहास सृजनशील और शक्तिशाली होता है।

इन मतों की आलोचना अनेक दार्शनिकों ने की है जिनमें रसेल, कालिंगवुड और कार्ल पॉपर मुख्य हैं। इनमें से सबसे गंभीर आलोचना पॉपर की है। उन्होंने 'पावर्टी आफ

हिस्टारिसिज्म' नामक ग्रंथ लिखकर सिद्ध किया है कि ऐतिहासिकता समाज-परिवर्तन का कारक नहीं हो सकती, क्योंकि समाज-परिवर्तन सप्रयोजन किया जाता है और ऐतिहासिकता निष्प्रयोजन और अंध होती है। कभी-कभी ऐतिहासिक तथ्यों का विरोध युक्ति-युक्त हो जाता है। जैसे, हिटलरवाद का विरोध युक्ति-युक्त था अथवा राणा प्रताप और शिवाजी द्वारा मुसलमानों के शासन का विरोध करना युक्ति-युक्त था। इसी प्रकार महात्मा गांधी द्वारा अंग्रेजों के शासन का विरोध करना न्यायसंगत था। अतएव यह कहना गलत है कि जो ऐतिहासिक तथ्य है वह युक्ति-युक्त है। इतिहास तथ्यों की व्याख्या है न कि तथ्यों का कारण। अतः समाजवाद इतिहास-सिद्ध है, ऐसा कहना गलत है। इसी प्रकार यह कहना कि समाजवाद वैज्ञानिक है बिल्कुल अनर्गल है, क्योंकि विज्ञान अटकल और उसके निराकरण द्वारा विकसित होता है और वह किसी सार्वभौम को स्वीकार नहीं करता।

समाजवाद का आधार निषेध कहा जाता है, किन्तु यह आधार अमूर्त कल्पना है, क्योंकि निषेध-प्रक्रिया के पूर्व साहचर्य में कोई स्वीकारात्मक तथ्य रहना अनिवार्य है। इति इदं सत्यं (यह सत्य है) को माने बिना नेति-नेति (यह सत्य नहीं है, यह सत्य नहीं है) कहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार हेगल और मार्क्स का द्वन्द्व-न्याय धराशायी हो जाता है और समाजवाद का आधार समाप्त हो जाता है। यह कहना कि आदिम साम्यवाद, दासता, सामंतवाद और पूँजीवाद समाजवाद द्वारा सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं- गलत हैं, क्योंकि इन व्यवस्थाओं के आधार मानव-मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान में बीज रूप से रहते हैं। रूस की समाजवादी व्यवस्था के पतन के बाद इनकी वापसी दृष्ट है। अन्य देशों में भी, विशेषतः भारत में, समाजवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद से जुड़ गया है। प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि भारत में समाजवाद, जातिगत और वंशगत विशेषाधिकारों को दो पैमानों से व्यवहृत कर रहा है। एक ओर वह परंपरागत उच्च जातियों और वंशों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर रहा है तो दूसरी ओर वह निम्नजातियों को विशेष अवसर के नाम पर विशेषाधिकार दे रहा है जिसके कारण जातिगत और वंशानुगत विशेषाधिकारों की नयी सर्जना हो रही है।[४६] 'जहां समाजवाद का लक्ष्य समान अवसर और समान वितरण है वहां भारतीय समाजवाद विशेष अवसर और विशेष वितरण के द्वारा सामंतवाद और

पूँजीवाद को उत्पन्न कर रहा है। यही नहीं, वह संस्कृतीकरण द्वारा वर्तमान जातिवाद को सामंतवाद में बदल रहा है और सामाजिक कल्याण के स्थान पर जातीय कल्याण का सिद्धांत हो गया है। भारतीय समाजवादियों में डा० राम मनोहर लोहिया और जय प्रकाश नारायण अग्रगण्य हैं। किन्तु इन दोनों के विचारों ने समाजवाद की वास्तव में हत्या कर दी है। डा० लोहिया ने विशेष अवसर और उस पर आधारित आरक्षण नीति को अपने लड़ाकू समाजवाद का जो कृपाण बनाया था उसने समाजवाद को काटकर राजनीतिक जातिवाद की स्थापना की जिसका आदर्श मध्यकालीन सामंतवादी व्यवस्था है। इसी प्रकार जय प्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रांति का आन्दोलन चलाकर समाजवाद को अराजकता, आतंकवाद और गुण्डागर्दी से अभिन्न कर दिया। इस प्रसंग में कार्ल आर० पॉपर का यह मत अत्यंत सारगर्भित है कि सामाजिक व्यवस्था में केवल आंशिक सुधार किये जा सकते हैं और किये जाते हैं तथा उसको आमूल बदल देना और नये सिरे से नयी व्यवस्था लागू करना संभव नहीं है। जैसे वैचारिक व्यवस्था में आंशिक परिवर्तन सम्भव है वैसे सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में भी।

अंत में, समाजवाद कोई तथ्य नहीं है, अपितु मूल्य या आदर्श है। वह कोई संक्रान्तिकालीन व्यवस्था नहीं है, क्योंकि यदि वह तथ्य रूप से स्थापित हो जाय तो वह मूल्य न होगा और अन्य तथ्यों की भांति परिवर्तनीय होगा। समत्व या समता, समान अवसर और समान अधिकार के आदर्शों का समाज में जितना व्यापक प्रयोग किया जायेगा, उतना ही समाजवाद चरितार्थ होगा। बहरहाल, समाजवाद लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता है। वह लोकतंत्र का केवल आदर्श है। वह वैसे ही सतत् वांछनीय है जैसे शांति। इस प्रसंग में महात्मा गांधी का अहिंसावाद अधिक उपयोगी है। उन्होंने समाजवादी आदर्श को प्राप्त करने के लिए अहिंसा और सत्याग्रह को साधन बनाया। रूस ने उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हिंसा और सैन्य-शक्ति के साधन का प्रयोग किया। हिंसा से प्राप्त कोई व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसा अपने को बढ़ाती रहती है। उसका नाश अहिंसा से ही हो सकता है। साम्यवाद ने जिस हिंसा के बल पर अपने को स्थापित करने का प्रयास किया उसके कारण साम्यवाद को बर्बरता से अभिन्न किया जाता है। कुछ भी हो, साम्यवाद वह ईश्वर है जो अपने कार्य में असफल हो गया और

जिस लोकतंत्र का उन्मूलन करना उसका प्रयोजन था, उसी की शरण में वह आ गया। प्रो० पाण्डेय के अनुसार साम्यवाद पर लोकतंत्र की विजय वास्तव में हिंसा पर अहिंसा की विजय है। हेगल और मार्क्स परिवार, सभ्य समाज और राज्य को एक त्रिक मानते हैं और उन्हें क्रमशः वाद, प्रतिवाद और संवाद (समन्वय) मानते हुए कहते हैं कि परिवार का उन्मूलन सभ्य समाज द्वारा और सभ्य समाज का उन्मूलन राज्य द्वारा होता है। वे इन संस्थाओं को बिजांकुर-न्याय से अनुशासित मानते हैं। किन्तु वास्तव में इन संस्थाओं में जलतरंग-न्याय से भेदाभेद सम्बन्ध है और सभी का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व वाँछनीय है।[47] हेगल और मार्क्स ने भिन्नताओं के सह-अस्तित्व को गलती से व्याघातकों का समन्वय समझ लिया। इस कारण उन्होंने द्वन्द्व न्याय का अनुचित प्रयोग किया। राज्य का कार्य परिवार और सभ्य समाज का उन्मूलन करना नहीं है, अपितु उनको सुदृढ़ करना है। लोकायनवाद इन संस्थाओं के बीच अभेद सम्बन्ध को मानता है। इसी प्रकार वह राज्य (राष्ट्र) और राष्ट्र-संघ तथा मानवता को एक त्रिक् मानता है जिनमें वैसा ही भेदाभेद सम्बन्ध है जैसा परिवार, सभ्य समाज और राज्य में। मानवता के लिए ये सभी संस्थाएँ अनिवार्य हैं। मानववाद समाजवाद का लक्ष्य है। किन्तु प्रश्न है कि मानववाद क्या है?

समाजवादी और अस्तित्ववादी मानववाद को अनिवार्यतः निरीश्वरवाद कहते हैं, किन्तु वे जिस ईश्वर की कल्पना करते हैं वह सर्वेश्वरवाद का ईश्वर नहीं है। लोकायनवाद के अनुसार प्राणिमात्र में ईश्वर की सत्ता विद्यमान है। ईश्वरवाद मानववाद का विरोधी नहीं है, अपितु उसको सुदृढ़ करने वाला है। सभी मनुष्यों के हृदय में, उनकी अंतरात्मा में, ईश्वर निहित है। ईश्वर ही उन्हें असत् से सत् की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर अथवा अधर्म से धर्म की ओर या अन्याय की ओर ले चलता है। यह भी सत्य है कि जिस शक्ति या संस्था द्वारा मनुष्य अधर्म से धर्म की ओर चलता है वह साक्षात् ईश्वर है। अतएव मनुष्य जिन सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है उनमें वह ईश्वर का दर्शन करता है। इस दृष्टि से मानववाद सर्वेश्वरवाद के अनुकूल है। वास्तव में ईश्वर समस्त प्रजा का मूल सत् है। जिसमें वह प्रतिष्ठित है। लोक-रचना और लोक-प्रवृत्ति का कारण यह सत् है। इसी को ईश्वर ब्रह्म या आत्मा कहा जाता है। अतएव सम्पूर्ण मानवता या प्रत्येक मनुष्य इस आत्मा से नियंत्रित

है। लोकात्मा के रूप में ईश्वर सर्वव्यापी है। अतएव तत्व, कर्म, प्रयोजन और जीवन की दृष्टियों से लोकात्मा मानव लोक का सूत्रधार एवं नियंत्रक है। जो मनुष्य उसको इस रूप में जानता है वह प्रभु या सर्वशक्तिमान हो जाता है। सामान्यतः मानववाद शब्द स्वयं इस लोकात्मा को लक्षित करता है, किन्तु उसको स्पष्ट करने के लिए लोकात्म मानववाद इस शब्दावली का प्रयोग करना उपयोगी है। जो लोग मानववाद को भौतिकवाद से जोड़ते हैं वे मानव कर्म, प्रवृत्ति और प्रयोजन की जो व्याख्या करते हैं वे तर्कसंगत नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसमें चक्रक, अनवस्था आदि दोष हो जाते हैं। मनुष्य की स्वतंत्रता का तात्पर्य है कि उसकी चेतना उस निरपेक्ष सच्चिदानंद ब्रह्म से अभिन्न है जिस पर समस्त प्रजा लोक प्रतिष्ठित है।

वास्तव में, लोकायन एक प्रकार का मानववाद है। इस मानववाद का आधार अद्वैतवाद या सर्वात्मवाद है तथा इसकी मान्यता है कि सभी मानवों में एक ही परमसत् का साक्षात्कार किया जा सकता है। एतदर्थ, हिन्दू धर्म दर्शन में मानव को 'अमृत पुत्र' कहा गया है। वैदिक ऋषियों ने मानव में दिव्यत्व को देखा है। इस दिव्यत्व में व्यष्टि और समष्टि को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। प्रो० पाण्डेय मानव-जीवन का रहस्य व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध में मानते हैं।[८८] उनका कहना है कि मानववाद का अर्थ केवल यह नहीं है कि मनुष्य एक वास्तविक सत्ता है, वरन् उसका अर्थ है किसी एक मनुष्य की सत्ता से अधिक अन्य मनुष्यों की सत्ता है। इस प्रकार समाज मानव जीवन का अनिवार्य अंग है। मानव व्यक्तिनिष्ठ और लोकनिष्ठ है। मानववाद वह पद्धति है जो मनुष्य के सम्मान और प्रतिष्ठा के संरक्षण के साथ-साथ उसके समाज को भी प्रतिष्ठा देती है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब मानव को किसी कटघरे में सीमित न करके बहुमुखी आयाम के रूप में देखा जाय। प्रो० पाण्डेय मनुष्य के इस बहुआयामी स्वरूप को मानववाद का एक मापदण्ड मानते हुए कहते हैं कि बिना इसे स्वीकार किये हम मानवतावादी हो ही नहीं सकते।[८९]

प्रो० पाण्डेय ने मानववाद के संदर्भ में चेतना के भविष्य की गवेषणा की है। उनकी मान्यता है कि विषयिता का क्षेत्र उसी तार्किक स्थिति में है जिस स्थिति में भारत में औपनिषदिक चिन्तन में आत्मा अथवा बोध का स्वरूप था। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास ने निःसंदेह मनुष्य

की ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को सशक्त कर उन्हें व्यापकता प्रदान की, किन्तु चेतना पर इनका कोई भी नया प्रभाव नहीं पड़ा है। बीसवीं शताब्दी में प्राकृतिक एवं जैवीय विज्ञानों का बहुआयामी विकास वस्तुतः मानवीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में सर्वथा अप्रासंगिक रहा है। अतीत के दार्शनिकों ने जो भी कहा है वह आज भी अपरिहार्य एवं मानवीय स्थिति के लिए सार्थक है। अतः नई चेतना अथवा चेतना का विकास वस्तुतः निरर्थक एवं असंगत है।[१०]

उन्होंने मानववाद के चार निकष निर्धारित किया है, जो क्रमशः है :-

१. मानव के बहुआयामी व्यक्तित्व का सिद्धान्त

२. विनय (Humility) का सिद्धान्त

३. करुणा (Karuna) का सिद्धान्त

४. मानव स्वतन्त्रता (Freedom) का सिद्धान्त

प्रो० पाण्डेय कहते हैं कि मानव का बहुआयामी व्यक्तित्व सिद्धान्त मानव के व्यक्तिगत पहलू एवं उसमें निहित सामाजिक पहलू दोनों को स्वीकार करता है। जब हम मानवता के सामाजिक पहलू को स्वीकृति देते हैं तो निश्चित ही अन्य सामाजिक प्राणियों, समूहों, परिवार, जाति, समुदाय या वर्ग से मानव के सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। यह नैतिकता का सन्दर्भ है। सह अस्तित्व केवल समाज के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् प्रत्येक मानव के लिए भी अनिवार्य है क्योंकि मानव 'स्वसंस्थ' (आत्मनिष्ठ) होते हुए भी 'लोकसंस्थ' (समाज-निष्ठ) है। उसका स्वत्व एवं संस्थत्व परस्पर एकमेक हो गये हैं। प्रो० पाण्डेय ने स्वीकार किया है कि विनम्रता या विनय मानव का मौलिक गुण है। यह मानवतावाद का एक अन्य मापदण्ड है। इस मापदण्ड को स्वीकार करते हुए निश्चित रूप से वे मानवतावाद का एक अत्यन्त गंभीर और व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। मानवतावाद के संदर्भ में ही उन्होंने धर्म निरपेक्षता की भी चर्चा की है। उनके अनुसार 'धर्मनिरपेक्षता ही मानवतावाद है'।[११] दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यहाँ प्रो० पाण्डेय मानवतावाद को एक धर्म के रूप में स्वीकार कर लेना उचित नहीं मानते हैं क्योंकि यह धर्म-निरपेक्षता है। मानवतावाद को शक्तिवाद या तानाशाही प्रवृत्तियों से दूर होना

चाहिए, अन्यथा मानव के लिए शक्ति ही प्रमुख हो जाएगी और इससे सामाजिक अन्याय को बढ़ावा मिलेगा तथा मानवता का ह्रास होगा। एतदर्थ, मानव को देवत्व या देवत्व जैसी अतिमानवीय शक्ति से पृथक् रखना होगा और ऐसा करने के लिए मानव के अन्दर विनम्रता का भाव अत्यन्त आवश्यक है। प्रो० पाण्डेय के मत हो प्रत्येक मनुष्य को अपनी लघुता का, सीमाओं का, शून्यता का अथवा अपूर्णता का ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना वह मानवता विरोधी हो सकता है। इतना ही नहीं, प्रो० पाण्डेय ने मानवतावाद का नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करते हुए 'करुणा' को मानवतावाद का एक प्रमुख मानदण्ड माना है तथा इसके आधार पर वर्तमान समाज में उभरती कई समस्याओं का समाधान भी दिया है। यह करुणा ही वह मानवीय प्रवृत्ति है जो मनुष्य को मनुष्य से बाँधती है, जो सम्पूर्ण विश्व को एक सार्वभौम परिवार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को सुदृढ़ करती है। इसी भाव को जहाँ सन्त जन अहिंसा, प्रेम, क्षमा, परोपकार आदि के रूप में लेते हैं, वहाँ मार्क्सवादी चिंतक उसे आर्थिक समानता एवं सामाजिक न्याय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः प्रो० पाण्डेय का करुणावाद मानव जाति की रक्षा एवं विकास में सहायक है। मानवतावाद का अर्थ है कि पूरे विश्व में मानवता अपने को एक मानकर चले। यह केवल उदारता की ही बात नहीं है वरन् वर्तमान समस्याओं का हल भी है कि राष्ट्र, धर्म, जाति, रंग आदि के भेद-भावों से ऊपर उठा जाय। ऐसे मूल्यों, नियमों एवं विचारों को अपनाया जाय जिनमें सम्पूर्ण मानव-जाति का हित सम्मिलित है।[52] इसी प्रसंग में प्रो० पाण्डेय बौद्धमत की करुणा, जैनमत की अहिंसा तथा डा० राम मनोहर लोहिया के सप्तक्रान्ति सिद्धान्त को मानवतावाद के लिए आवश्यक मानते हैं।

पुनः स्वतन्त्रता नैतिकता को प्रमुख आधार है और इसीलिए यह मानवतावाद का भी एक मुख्य मापदण्ड है। मानव स्वतन्त्रताप्रिय प्राणी है। नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए उसे स्वतन्त्र होना चाहिए। इतना ही नहीं, कर्म, कर्मफल, उत्तरदायित्व आदि के लिए भी उसे संकल्प की स्वतन्त्रता चाहिए। कोई भी संस्था चाहे वह समाज हो या राज्य, जो मानव की स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं करती है, वह मानववादी नहीं हो सकती। यहाँ तक कि यदि मार्क्सवाद भी मानव स्वतंत्रता का निषेध करता है, तो वह भी मानववादी कहलाने का अधिकारी नहीं है। प्रो० पाण्डेय

इसी संदर्भ में मानते हैं कि मानववादी इसीलिए साम्यवाद के ठीक विपरीत हैं क्योंकि इसमें मानव की स्वतंत्रता का निषेध किया जाता है। यदि मार्क्सवाद मानववादी होने का दावा करता है तो उसे निश्चित रूप में मानव की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना ही होगा और साथ ही साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य की स्वतन्त्रता या सम्मान समाज व राज्य दोनों को करना है।[५३]

यथार्थतः प्रो० पाण्डेय का कथन पूर्णतया सत्य है कि स्वतंत्रता का गहरा सम्बन्ध मानव और उसके समाज दोनों से है। लघु मानव और लघु समाज दोनों की स्वतंत्रता उस स्वतन्त्रता से कम मूल्यवान् नहीं है जो महामानव और महान् राज्य की स्वतन्त्रता है। प्रो० पाण्डेय ने आधुनिक युग में राज्य की ओर से हो रहे मानव स्वतन्त्रता के खतरे का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि समाज या राज्य मानव के लिए है; मानव समाज या राज्य के लिए नहीं है। इसलिए समाज या राज्य का दायित्व है कि वह मानव की स्वतन्त्रता को निरन्तर प्रतिष्ठित करे। निश्चित रूप से यदि मानव एक दूसरे की स्वतन्त्रता का सम्मान करते हैं तो सामाजिक स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। प्रो० पाण्डेय ने मानवतावाद की तह में जाकर उसके मूलभूत तत्त्वों का जो आविष्कार किया है, वह निश्चित ही उनकी गहन अन्तर्दृष्टि का परिणाम है। आधुनिक संत्रस्त मानव के लिए वह एक नया संदेश है। विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों को उससे बहुत कुछ सीखना है। जिस धर्म में अहिंसा का पालन नहीं है वह धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं है। वे कहते हैं-

''अहिंसा परमो धर्म इति न येन मन्यते।
किं तेन धर्मभावेन गुरुधर्मेण वा पुनः।।''[५४]

आगे वे लिखते हैं, ''इस प्रकार हम पाते हैं कि संतों की परम्परा कबीर से गांधी तक की, मानववाद के सही रूप का प्रतिनिधित्व करती है एवं उसका औचित्य ऊपर के प्रतिपादित चार निकषों से सिद्ध हैं.... इसी प्रकार का मानववाद धर्मशास्त्र का विकल्प है, न कि काम्टे या मार्क्स का मानववाद। यह शंकर के अद्वैत दर्शन का उपसिद्धान्त है।[५५] प्रो० पाण्डेय ने विधि, नैतिकता एवं राजनीतिशास्त्र का अद्वैतानुकूल विचारणा की है। इस संदर्भ में वे कहते हैं कि जव तक नैतिक नियम अपनी प्रतिष्ठा पर पदारूढ़ नहीं होता, विधि एवं राजनीतिशास्त्र अपने उद्देश्य को सार्थकता प्रदान नहीं कर सकते। वस्तुतः ये नैतिक नियम की दो भुजायें हैं। अतः नैतिक

नियम की पूर्ण स्वीकृति, प्रतिष्ठा एवं विचारणा आवश्यक है।[५६] प्रो० पाण्डेय ने परम्परा एवं आधुनिकता का समन्वय वेदान्त के मानववाद में किया है। परम्परा एवं आधुनिकता मानववाद के सशक्त प्रहरी हैं। मानववाद में ही सभी प्रकार की विचार धाराओं का समन्वय करना चाहिए, वही उन सबका मापदण्ड है। जैसा कि उन्होंने कहा है–

''मानववादमाश्रियत्व योज्याः सर्व विचारणाः।
तस्मिन्नेव हि कर्त्तव्यः सर्वदर्शन संग्रहः।।''[५७]

अन्त में वेदान्त के 'श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' को प्रो० पाण्डेय मानव जाति के उद्‌बोधन का गुरुमंत्र मानते हैं। चिंतन की सारी विधायें वेदान्त की विश्रामशालायें हैं। व्यक्ति और समाज के संदर्भ में प्रस्थापित लोकायनवाद पूँजीवाद और साम्यवाद का विकल्प हो सकता है लोकायन वाद सामाजिक कल्याण एवं शुभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह ऐसे समाज की स्थापना करता है जहाँ द्वन्द्व और तनाव नहीं होता। लोकात्म-मानववाद के आधार पर भारत में प्राचीन काल से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। सम्पूर्ण मानवता एक वृहद् परिवार है जिसमें समस्त दुःखों, द्वन्द्वों और आकांक्षाओं से रहित आप्तकाम या स्थितप्रज्ञता का जीवन ही मानव का आदर्श है। इस आदर्श के प्राप्तव्य हेतु उपनिषदों में कहा गया है- 'उठो, जागो और वरण करके इस आदर्श को जानो', उत्तिष्ठत्, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत्'। आधुनिक युग में स्वतंत्रता समता और विश्वबंधुत्व के आदर्शों के कार्यान्वयन क़ी संभावना विज्ञान तकनीकी और सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के कारण बढ़ गयी है। मानव अधिकारों के प्रति सचेष्टता तथा मानव स्वतंत्रता के विकास के प्रति मतैक्यता लोकायन के औचित्य के पक्ष में सबल प्रमाण है।

संदर्भ

१. 'प्रस्थानं यदनन्यत्वं प्रस्थापयति तर्कतः।
सर्वप्रस्थान सिद्धान्त सारामृतं तदुच्यते।।'
प्रो० संगम लाल पाण्डेय द्वारा विरचित श्लोक जो उनके अंग्रेजी निबन्ध 'दि स्कूल ऑफ आइडेन्टिटी' में दिया गया है। संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य।

२ 'अनन्यतास्ति बाधश्चेन्न चेद् बाधस्ततस्तराम।
अनन्यतावधिर्बाधो बाधावधिरनन्यता।।'

शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १८६

३. दि नेचर आफ सेल्फ, अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १६३८.

४. 'अधिकं तु भेद निर्देशात्'। - ब्रह्मसूत्र, २.१.२२

५. शंकराचार्य, वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, २.४.६

६. इतो न किंचित् परतो न किंचित्।
यतो यतो यानि ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किंचित्,
स्वात्मावबोधाधिकं न किंचित्।।
शार्गधर पद्धति-४/२७, सुभाषितरत्न भाण्डागारम्, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई १६५२, पृ० ३६७ में उद्धृत

७. 'तदनन्यत्वमारम्भण शदादिभ्यः'। ब्रह्मसूत्र, २.१.४

८. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०१ में उद्धृत श्रीहर्ष का मत

६. वही, पृ० १८६-१६२

१०. 'यथा यथा विचार्यते तथा तथा विशीर्यते।' मूल माध्यमिक कारिका, नागार्जुन

११. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ५७

१२. प्री-शंकर अद्वैत फिलासोफी, एस०एल० पाण्डेय, पृ० २५७-२५८

१३. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १५८-१८८

१४. कंचित परमार्थमवलम्य अपरमार्थः प्रतिसिद्धयते। शंकराचार्य.

१५. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय, पृ० १८३

१६. स च कार्य कारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्त वादस्य। शारीरक भाष्य १.४.२८

१७. सिम्बालिक लाजिक, आई० एम० कोपी, मैकमिलन न्यूयार्क, छठवाँ संस्करण, पृ० २५'

१८. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २६.२८

१६. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, डा० संगम लाल पाण्डेय पृ० १६८-१८८

२०. समाज, धर्म और राजनीति, संगम लाल पाण्डेय पृ० ६५-७० और समाज-दर्शन की एक प्रणाली, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १४१-१४२

२१. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।' भगवद्गीता, २.६६

२२. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० २५

२३. संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांक, संपादक जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० २५८

२४. वेदान्तिक सोशल फिलासफी, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २२-२३

२५. संस्कृत विचार सागर, द्वितीय तरंग, पृ० ५२

२६. समाज दर्शन की एक प्रणाली, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १४१

२७. वेदान्तिक सोशल फिलासोफी, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २६

२८. वही, पृ० २६

२९. वही, पृ० ३४

३०. समाज दर्शन की एक प्रणाली, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १५६

३१. चाणक्य नीति दर्पण, ३/१०

३२. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० २६

३३. देशशक्ति चतुष्टयम्, संगम लाल पाण्डेय, २/२५.२६

३४. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, पृ० २७

३५. संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांक, संपादक जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० २५०

३६. महाभारत, वन पर्व, ३३-४२

३७. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २२२

३८. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०६

३९. वही, पृ० ११०

४०. कठोपनिषद्, १.३.१४

४१. वेदान्तिक सोशल फिलासफी, एस०एल० पाण्डेय, पृ० ६२-६३

४२. समाज दर्शन एक प्रणाली, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १६८

४३. वही, पृ० १५३

४४. वही, पृ० १५३

४५. वही, पृ० १८१

४६. वही, पृ० १८२

४७. वही, पृ० १८३

४८. फोर क्राइटेरिया आफ ह्यूमनिज्म, संगम लाल पाण्डेय, दर्शन रिव्यू, भाग ३-६, १६८४-८५, पृ० २

४६. वही, पृ. ३

५०. वेदान्तिक सोशल फिलासफी, एस०एल० पाण्डेय, पृ० ५३

५१. समाज, धर्म और राजनीति, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १३०

५२. भारतीय दार्शनिक निबन्ध, संपादक डी०डी० बंदिष्टे, पृ० २४१

५३. फोर क्राइटेरिया आफ ह्यूमनिज्म, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ११

५४. देशशक्ति चतुष्टयम्, संगम लाल पाण्डेय, दर्शन पीठ इलाहाबाद १६८१,· ६/५७

५५. वेदान्तिक सोशल फिलासफी, एस०एल० पाण्डेय, पृ० ७१

५६. वही, पृ० ८३

५७. देशशक्ति चतुष्टयम्, संगम लाल पाण्डेय, ७/५०

सप्तम् अध्याय

समीक्षात्मक उपसंहार

सप्तम् अध्याय

समीक्षात्मक उपसंहार

शोध प्रबन्ध के इस अन्तिम अध्याय में मैने 'अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में प्रो० संगमलाल पाण्डेय के दर्शन का विश्लेषण' का समीक्षात्मक उपसंहार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने स्पिनोजा, काण्ट, गांधी, रानडे तथा शंकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैतवादियों पर पृथक-पृथक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इनमें से गांधी एवं रानडे का प्रभाव उनके चिंतन पर गहरा पड़ा। इसके अतिरिक्त अपने साक्षात् गुरु प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० राम नाथ कौल के ऊपर महत्वपूर्ण निबन्ध लिखकर उनके दार्शनिक विचारों का प्रचार प्रसार किया। प्रो० पाण्डेय ने इनके अतिरिक्त अन्य समकालीन दार्शनिकों पर भी कुछ न कुछ लिखा है, इस कारण उनका भी परोक्ष-अपरोक्ष रूप से कुछ-न-कुछ प्रभाव उनके चिंतन पर अवश्य पड़ा है। इनमें प्रमुख है- डा० एस० एन० दास गुप्ता, प्रो० के० सी० भट्टाचार्य, डा० डी० एम० दत्त, डा० पी० टी० राजू पं० जवाहर लाल नेहरू, डा० लोहिया, स्वामी करपात्री, पं० रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य बिनोवा भावे इत्यादि।

प्रो० पाण्डेय ने समकालीन समीक्षकों के आक्षेपों से अद्वैतवाद की प्रतिरक्षा करते हुए अपने दर्शन को विकसित किया। इस कृत्य की सफलता के मूल में अपने गुरूजनों के उपदेश को भी स्वीकार करते थे। भगवद्गीता में कहा गया है-

"तद्वृधि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।"[1]

तत्वदर्शी गुरुओं ने प्रो० पाण्डेय को 'तत्' का ज्ञान कराया है, इन गुरुओं में प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी और प्रो० रामनाथ कौल प्रमुख हैं। इन सभी के उपदेशों की एकरूपता ने प्रो० पाण्डेय को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी गुरु परम्परा के बल पर उन्होंने अपने दार्शनिक मण्डल को अद्वैतवाद की ओर अग्रसर किया। वे मानते हैं कि यों तो वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय हैं किन्तु सबका मूल अद्वैतवाद है, जहाँ तक पहुँचने के लिए अन्य वेदान्त सोपान मात्र हैं।

'अद्वैत दर्शन की प्रणाली का पुनर्गठन' के अन्तर्गत प्रो० पाण्डेय ने अद्वैत प्रणाली को धर्मशास्त्र, पूर्वमीमांसा एव रहस्यवाद की विधियों से पृथक सिद्ध किया है। शंकराचार्य का कहना है- 'धर्म जिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एवं प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्'[2] अर्थात धर्म जिज्ञासा की भाँति ब्रह्म जिज्ञासा में श्रुति-स्मृति ही प्रमाण नहीं, अपितु स्मृति, युक्ति तथा अनुभूति भी यथासंभव प्रमाण है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली का शुभारम्भ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के अनुभवों के विश्लेषण से होता है। मनुष्य की इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा का सारभूत चैतन्त अवश्य विद्यमान रहता है। उन्होंने अद्वैत विधि में समस्त अनुभवों के यथावकाश उपयोग को अद्वैत प्रणाली की अद्वितीय विशेषता मानते हुए, कहा है कि 'विश्व में किसी भी दर्शन ने आज तक इन तीनों अनुभवों का इतना सुन्दर उपयोग नहीं किया जितना अद्वैत ने।'[3] वस्तु सत्य तो यह है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति और अनुभव है। अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अन्धविश्वास है। इन्हीं दोनों की निरवद्यता पर ही अद्वैत मनन विधि आधारित है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन अद्वैत प्रणाली के तीन क्रमिक सोपान हैं। श्रुति का विश्लेषण और समन्वय श्रवण है, अनुभव का विश्लेषण तथा श्रुति का निग्रह मनन है। निदिध्यासन निरन्तर मनन है, जिसे हम परिपक्व मनन भी कह सकते हैं। इसी कारण शंकराचार्य मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण की भाँति अवगति प्रधान मानते हैं- 'मनन निदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्'।[4] यही ज्ञान मार्ग है।

प्रो० पाण्डेय ने प्रातिभज्ञान या स्वानुभूति को 'इदम्', 'किम्' और 'तत्' अथवा 'तथता' के त्रिक में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि तत्व का ज्ञान इसी से होता है। इसीलिए उसको

अन्तर्दृष्टि कहा जाता है, इसमें 'इदम्' पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है जबकि 'किम्' का निराकरण हो जाता है। अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान प्रातिभज्ञान है। प्रातिभज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान है, इसे ही अपरोक्ष अनुभव, साक्षात् अनुभव या भावना भी कहा जाता है। यह प्रातिभज्ञान सृजनात्मक कला मात्र ही नहीं है अपितु स्वयं साक्षात् आत्मा है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान और इच्छा को लेकर क्रमशः ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग प्रचलित है। अद्वैत वेदान्त में जैसा कि प्रो० पाण्डेय ने दिखाया है कि कर्ममार्ग भी संयोग, पृथकत्व न्याय से वही व्यापार करता है जो व्यापार ज्ञानमार्ग अध्यारोप और अपवाद के द्वारा करता है। अतएव इन दोनों मार्गों में अद्भुत ऐक्य है जो सिद्ध करता है कि ज्ञान और इच्छा का भेद असत्य है और यथार्थतः इन दोनों में अभेद है।[५]

वैदिक कालीन ऋषियों ने परमसत् तक पहुँचने में अथवा उसका निर्वचन करने में जिस तर्कना पद्धति का प्रयोग हुआ है, उसे द्वन्द्व न्याय कहा जा सकता है। वादरायण ब्रह्मसूत्रों में जो तर्कना पद्धति प्रयुक्त हुई है, उसे प्रो० पाण्डेय ने 'परिश्रान्ति-निरूपण विधि' कहा है।[६] इस विधि में सभी संभावित विपरीत मतों का खण्डन कर प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक मान लिया जाता है। गौडपाद का अद्वैत वह परम सत् है जिसमें समस्त नानात्व समाहित हो जाते हैं और उसका किसी से विरोध नहीं होता। अन्य सब मत कल्पित या वैतथ्य हैं। नागार्जुन ने समस्त पदार्थों का निषेध कर द्वन्द्व न्याय का एक पक्षीय प्रयोग किया, किन्तु वे सबका समन्वयकारी परम तत्व नहीं खोज पाये, उनका अद्वय उनके एकपक्षीय द्वन्द्वन्याय का सूचक है। ब्रह्मसूत्र में 'तर्काप्रतिष्ठानात्' पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य कहते हैं- 'निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठाभवन्ति'[७] अर्थात श्रुति का आश्रय लिए बिना केवल पुरुष कल्पना मूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते हैं। शंकराचार्य अपने तर्क सीधे संसार को मिथ्या सिद्ध करने की अपेक्षा संसार को सत्य मानने वालों के मत का खण्डन करने में लगाते हैं। वे अपने मत में स्वतः व्याघात प्रदर्शित कर उसे अप्रतिष्ठित घोषित कर देते हैं। यही शंकराचार्य के द्वन्द्व न्याय की उपादेयता है। प्रो० पाण्डेय का कहना है कि शंकराचार्य का द्वन्द्व न्याय हेगल के प्रत्ययवादी द्वन्द्वन्याय और मार्क्स के भैतिकवादी द्वन्द्वन्याय से भिन्न है। पुनश्च वे कहते हैं कि अद्वैत वेदान्त की तर्क प्रणाली हेगल के

द्वन्द्व न्याय का खण्डन करती है और एक ऐसा द्वन्द्व न्याय प्रदान करती है जो समस्त विरोधों का परिहार करके अविरोधवाद को जन्म देता है। अद्वैतवाद अभेदवाद को ही द्वन्द्वन्याय का सार बताता है और निषेध को केवल अभेद मूलक तथा फलनात्मक उपाधि कहता है। शंकराचार्य के पश्चात, उनके कुछ शिष्यों तथा अद्वैतवादी आचार्यों जैसे मण्डन मिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती आदि ने द्वन्द्वन्यायात्मक पद्धति का प्रयोग किया।

अद्वैत साहित्य में यदाकदा तर्क को अप्रतिष्ठित तथा व्यर्थ बताया जाता है। तर्क अप्रतिष्ठित है, इस वाक्य में तर्क के विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है क्योंकि तर्क या बुद्धि का साम्राज्य व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ में उसकी गति नहीं है। समस्त तर्कों को अप्रतिष्ठित मान लेने से हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन असंभव हो जाएगा- 'सर्व तर्का प्रतिष्ठायां च लोक व्यवहारोच्छेद प्रसंगः।'[८]

प्रसंगानुमान परोक्ष तर्क पद्धति है जिसका मूलाधार विरोध का नियम है। इस अनुमान का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है -

(१) किसी मत को सावद्य या दोषपूर्ण दिखलाने के लिए, और

(२) किसी मत को सिद्ध करने के लिए

शंकराचार्य ने परमत खण्डन में प्रसंगानुमान के पहले प्रकार का प्रयोग किया है और स्वमत की स्थापना में इसके दूसरे प्रकार का प्रयोग किया हैं। प्रसंगानुमान द्वारा किसी निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करने के लिए उसके विरोधी वाक्य की असत्यता को सिद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया में विरोध कई प्रकार का हो सकता है। शंकराचार्य ने लोक अनुभव विरोध, श्रुति विरोध, श्रुत्यर्थ विरोध, सर्ववेदान्त व्याकोप, स्मृति विरोध, स्मृत्यनवकाश, स्वसिद्धान्त हानि आदि विरोधाभासों को प्रदर्शित किया है।[९] प्रो० पाण्डेय ने शंकराचार्य द्वारा परमत खण्डन में प्रसंगानुमानों के प्रयोग को 'तर्क का एक रचनात्मक प्रयोग' कहा है।[१०] शंकराचार्य खण्डन खण्डन के लिए नहीं करते हैं अपितु ज्ञानार्जन के लिए खण्डन करते हैं। इस प्रसंग में शंकराचार्य ने कई प्रसंगानुमानों का प्रयोग किया है, जैसे, जगदान्ध्य प्रसंग, अनाश्वास प्रसंग, अनिर्मोक्ष प्रसंग,

सर्वलोक व्यवहारोच्छेद प्रसंग इत्यादि। इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा नूतन तर्कों एवं तर्क दोषों की खोज तथा उनके आधार पर चिंतन, तर्कशास्त्र के क्षेत्र में उनके महत्वपूर्ण अवदान को रेखांकित करते हैं।

प्रो० पाण्डेय ने दर्शन जगत् में अनेक मौलिक एवं नवीन पदावलियों एवं सम्प्रत्ययों की उद्भावनायें की है, जो कि उनके चिंतन की अप्रतिम विशेषता है। ये नूतन मौलिक उद्भावनायें इस प्रकार हैं- 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के स्थान पर 'व्यवहारे तु गांधी नयः', 'नेति-नेति' के मूल में 'इति-इति' की स्थिति, माया का तार्किक संभावना के रूप में वर्णन, आहार्यज्ञान सिद्धान्त, स्फोटवाद से अद्वैतवाद का अविरोध, अद्वैत मुक्तिवाद का सामाजिक विनियोग, विज्ञान दर्शन और अद्वैतवाद।

अद्वैतवेदान्त में व्यवहार या यथार्थ में 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' का सिद्धान्त प्रचलित था वहीं प्रो० पाण्डेय ने 'व्यवहारे तु गांधीनयः'[११] की अवधारणा दी। दूसरे शब्दों में कर्ममीमांसा के अनुसार जीवन निर्वाह किया जाय। गांधी ने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर अपनी नव्य कर्ममीमांसा स्थापित की। गांधी गीता की निम्न अवधारणा को अक्षरशः सत्य मानते थे-

"कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये।।"[१२]

अर्थात् शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी योगीजन आसक्ति रहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'[१३] अध्यारोप तथा अपवाद द्वारा ही निष्प्रपंच सत् का निरूपण किया जाता है। यह ज्ञान मार्ग का प्रतिषेधक वर्णन है, यह 'नेति-नेति' का मार्ग है। इसके पीछे 'इति-इति' का भी मार्ग छिपा है। इति-इति की प्रक्रिया को ही उपनिषदों में 'एतदवैतद्' (This is that) कहा गया है। प्रो० पाण्डेय ने सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए इसके मूल में 'इति-इति' की प्रक्रिया को स्वीकार किया है जो कि 'नेति-नेति की प्रक्रिया का आधार है।'[१४]

माया, वेदोपनिषद की विचारधारा का आन्तरिक विकास है। यह केवल एक शुद्ध तत्वमीमांसात्मक या ज्ञानमीमांसात्मक संप्रत्यय ही नहीं है अपितु वह अनिवार्यतः एक

मूल्यमीमांसात्मक संप्रत्यय भी है। प्रो० पाण्डेय ने माया को 'सृष्टि का शाश्वत चक्र' (The eternal riddle of the universe) मानते हुए कहा है-

'नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवाभयात्मिका।

सद सदभ्याम निर्वचनीया मिथ्याभूता सनातनी।।'[९५]

मायावाद प्रत्ययवाद और यथार्थवाद दोनों से परे है। मायावाद आत्मवाद का निषेधात्मक वर्णन है। प्रो० पाण्डेय ने अनन्यता प्रस्थान के अन्तर्गत माया की समस्या को अविद्यालेश की समस्या से जोड़ते हुए कहा है-

''अविद्यालेश सिद्धान्त व्याख्यानं त्रिविधं कृतम।

अनन्य शक्ति तुच्छेभ्यो जीवेश ब्रह्मदृष्टिभिः।।''[९६]

अविद्यालेश का सम्प्रत्यय अज्ञान की समस्या हल करने में सहायक है। अविद्यालेश जीव की दृष्टि में ज्ञान के अनन्य है, ईश्वर की दृष्टि में अविद्यालेश शक्ति है जिसके द्वारा ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है और अन्त में ब्रह्म की दृष्टि में अविद्यालेश तुच्छ है अर्थात बिल्कुल मिथ्या है।

आहार्यज्ञान सदिच्छा से किया गया 'तद्' से अभिन्न विमर्श है। चूँकि तद् स्वप्रकाश चित् है, अतः उसका सदिच्छा कृत विमर्श उसकी कला बन जाता है। अर्थात् वह अंशतः 'तत्' को ही प्रकाशित करता है। आहार्यज्ञान अध्यास से भिन्न है क्योंकि यह ऐच्छिक भावना मूलक है जबकि अध्यास ऐच्छिक नहीं है। उदाहरण के लिए, शालिग्राम में विष्णु का निवास मानना आहार्यज्ञान है। यहाँ यह अध्यास तो है किन्तु दोष नहीं है क्योंकि यह भक्ति की इच्छा से जन्य ज्ञान है। भक्ति की इच्छा वास्तव में आत्मा की सदिच्छा है जो पाण्डेय ने आहार्यज्ञान का प्रयोग भक्ति एवं विज्ञान दोनों के क्षेत्रों में किया है। वे कहते हैं -

'अद्वैतं परमार्थों हि द्वैतं भजन हेतवे।

भक्त्यर्थ भावितंद्वैतादपि सुन्दरम्।।'[९७]

अद्वैत परमार्थ है, द्वैत भजन के लिए है। भक्ति के लिए जिस द्वैत की उद्भावना की जाती है, वह अद्वैत से भी सुन्दर है। इस प्रकार भेद ज्ञान आहार्यज्ञान है, भक्ति सिद्धान्त उसी पर आधारित है। अन्यत्र प्रो० पाण्डेय ने आहार्य ज्ञान के संदर्भ में लिखा है-

"आहार्य ज्ञान विरचितभेदो मतोऽनन्य भक्तैः।
इच्छाजन्यास्ति पुरुष कला ज्ञायतेऽसैययैव।।
विज्ञानं संभवति सकलं तद् विमर्श प्रयोगैः।
इत्थं विज्ञानं विषय विमर्शैः सदाऽत्मैवलक्ष्यः।।"[१८]

'स्फुटति व्यक्तीभवति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः अथवा 'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः' अर्थात, जिससे अर्थ स्फुटित होता है अथवा जिससे वर्ण अभिव्यंग्य होकर अर्थ प्रतीति का जनक होता है, उसे स्फोट कहते हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण भाष्य में प्रबल युक्तियों द्वारा स्फोटवाद का खण्डन करते हुए प्रदर्शित किया है कि शब्द से संसार की उत्पत्ति का सिद्धान्त माननीय नहीं है। वे कहते हैं कि वर्णों से ही अर्थ प्रतीति के संभव होने से वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना अनर्थक है।[१६]

अद्वैत मुक्ति के सामाजिक विनियोग से संबंधित प्रश्न यह है कि क्या मुक्त पुरुष लोक-कल्याण करता है? और यदि वह करता है तो क्या मुक्ति से लोक कल्याण के कर्म अनिवार्यतः संलग्न हैं? अथवा क्या मुक्ति सामाजिक आदर्श है? प्रो० पाण्डेय का कहना है कि वास्तव में मुक्त पुरुष न तो व्यष्टि है और न ही समष्टि। मुक्ति के सामाजिक प्रयोजन का विश्लेषण करने पर ऋतु, प्रियम्, स्वाराज्य, समता, स्वतन्त्रता आदि तत्व प्राप्त होते हैं। अद्वैत की मुक्ति स्वाराज्य की प्राप्ति है। आदर्श राज्य के रूप में 'रामराज्य' की कल्पना करते हुए तुलसीदास ने रामराज्य का लक्षण बताया है-

'दैहिक दैविक भौतिक तापा राम राज्य काहुहि नहिं व्यापा।'

उपनिषदों में भी कहा गया है- 'आत्मानं आत्मनैव उद्धरेत' अर्थात समाज को अपना कल्याण स्वयं करना चाहिए। स्वामी रामतीर्थ ने कहा कि समता सिद्धान्त वास्तव में अद्वैत का

सामाजिक विनियोग है। अद्वैत की मुक्ति का भारतीय समाज पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि आज तक इससे उच्चतर आदर्श सुलभ नहीं हो सका है।

'विज्ञान दर्शन और अद्वैतवाद' के संदर्भ में प्रो० पाण्डेय ने कहा है कि अद्वैत वेदान्त विज्ञान दर्शन के उतने ही नजदीक है, जितने कि वेद विज्ञान के नजदीक है।[२०] अद्वैत भारतीय वैज्ञानिक दार्शनिकों जैसे कपिल, कणाद, चरक, नागार्जुन और भर्तृहरि की ही भाँति वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण करता है। अद्वैत न तो मनोविज्ञान है और न ही सृष्टि विज्ञान है अपितु यह इन दोनों का ही आलोचनात्मक परीक्षण है। अद्वैत तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दोनों अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में सिद्ध करते हैं। प्रो० पाण्डेय ने अध्यारोप और अपवाद प्रणाली को अद्वैत विज्ञान दर्शन तक जाने का लघु मार्ग माना है। उनके अनुसार, यदि अद्वैत को विज्ञान दर्शन के रूप में न लिया जाय तो इसकी पुरातन मनन विधि अर्थहीन हो जाएगी।[२१] यह विधि 'तत्वमसि' महावाक्य पर आधारित है, जिसका प्रयोग तीन चरणों में होता है- तत्पदार्थ शोधन, त्वंपदार्थ शोधन और तत् और त्वं के बीच सम्बन्ध। परम्परागत रूप से अद्वैतवादी तत्वमसि' (Thou art that) की व्याख्या तीन प्रकार से करते हैं-

१. 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदों का 'सामानाधिकरण्य' (Samanadhikarnya)

२. 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदों के वाच्यार्थ में 'विशेषाविशेष भाव' (Visesavisesyabhaya)

३. प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में 'लक्ष्य लक्षणाभाव' (Laksya laksanabhava)

इन दोनों के बीच के संबंध को 'जहदअजहत् लक्षणा' कहते हैं। अंतिम रूप से तत्वमसि का अर्थ स्थापित हो जाने पर इसे 'प्रणव विद्या' या 'ऊँ' (Aum) कहा जाता है। मनन का विज्ञान प्रणव विद्या के रूप में जाना जाता है। प्रणव विद्या यह प्रदर्शित करती है कि अद्वैत एक विज्ञान है जिसका प्रयोग धर्मदर्शन या विचारशील जीवन की प्रसन्नता की ओर ले जाने में किया जाता है। डा० भगवानदास ने इसे 'शांति का दर्शन' कहा है। डा० पाल डायसन ने परा विद्या

(दर्शन) और अपरा विद्या (विज्ञान) को परस्पर विरुद्ध बतलाया है जो कि वेदान्त सम्मत नहीं है। इस प्रसंग में प्रो० पाण्डेय का दृष्टिकोण है कि परम सत्ता एक ही है और वह है- 'ब्रह्म', जिसका सिद्धान्त रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि मानव दृष्टिकोण स्वयं में अतीन्द्रिय है, इस प्रकार पराविद्या दर्शन के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान का सिद्धान्त है।[२२] शंकर व अन्य भारतीय दार्शनिकों ने विज्ञान का एक प्रतिमान प्रस्तुत किया है, जो कि प्रकृति की एक रूपता, विकासवाद त्रैगुण्य सिद्धांत, तन्मात्र सिद्धान्त के रूप में अत्यन्त उपयोगी है। ये सभी प्राचीन भारतीय विज्ञानों की आधारशिला हैं। इस प्रकार सांख्य, वैशेषिक मूलतः विज्ञान हैं और उनकी समीक्षा से विकसित होने के कारण अद्वैत विज्ञान है।

अनन्यता प्रस्थान प्रो० पाण्डेय के प्रौढ़ चिंतन का प्रतिफल है। उन्होंने इसे वार्तिक प्रस्थान, विवरण प्रस्थान, भामती प्रस्थान तथा बाध प्रस्थान के समकक्ष माना है। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार बाध प्रस्थान की आधारशिला तर्कशास्त्र का अबाध नियम है वैसे ही अनन्यता प्रस्थान की आधारशिला अनन्यता का नियम है। अनन्यता का अर्थ आत्मा भी है क्योंकि शब्दतः और अर्थतः आत्मा अनन्यता है। एक ओर आत्मा सभी ज्ञेय पदार्थों की प्रागपेक्षा है तो दूसरी ओर सभी ज्ञेय पदार्थ उससे अनन्य भी हैं। यदि उन पदार्थों को आत्मा से अनन्य नहीं माना जाता तो वे अध्यास दोष से ग्रसित हो जाते हैं। उनका यथार्थ रूप, एक और अद्वितीय सत् के रूप में जो आत्मा है उससे अपृथक या अनन्य होता है।

अनन्यता प्रस्थान में ईश्वर ब्रह्म से अनन्य है और जीव ईश्वर से अनन्य है। यदि जीव ज्ञान मार्ग का अनुसरण करें तो वह ब्रह्म से भी अपनी अनन्यता को बोध प्राप्त कर सकता है क्योंकि आत्मा एक और अद्वितीय सत् है। इसी प्रकार अनन्यता प्रस्थान भगवद्गीता के आधार पर मानता है कि बुद्धि और भावना तभी तत्व तक पहुँच सकती है जब वे आत्मा से अनन्य हो। अन्यथा जो बुद्धि और भावना आत्मपूर्वक नहीं हैं, वे अज्ञान को ही बढ़ाती हैं।

अनन्यता प्रस्थान को सिद्ध करने के लिए प्रो० पाण्डेय तर्क देते हैं कि यदि बाध है तो अनन्यता अवश्य है क्योंकि दो प्रत्यय तभी परस्पर बाध्य-बाधक होते हैं जिनमें कुछ एकता या

अनन्यता रहती है। पुनः यदि बाध नहीं है तो अनन्यता का सिद्धान्त निष्कंटक और निर्दोष स्वतः हो जाता है।[२३] अनन्यता प्रस्थान अतीन्द्रिय निगमन प्रणाली के द्वारा आत्मज्ञान की एकता के अतिरिक्त और किसी अन्य तत्व की समस्त ज्ञेय विषयों की प्रागपेक्षा नहीं मानता। इस संदर्भ में शंकराचार्य का निम्न कथन उल्लेखनीय है- 'आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्'।[२४] वास्तव में अनन्यता प्रस्थान सत्यं और शिवं की एकता का प्रतिपादन करता है तथा इसके आधार के रूप में सत् ज्ञान और सदिच्छा इन दोनों में ऐक्य की स्थापना करता है। इस स्थापना के लिए वह आहार्य ज्ञान को प्रस्तावित करता है।[२५]

प्रो० पाण्डेय ने अनन्यता प्रस्थान के अन्तर्गत वेदान्त और अद्वैत की नूतन परिभाषा दी है, जो इस प्रकार है-

> "वेदान्तोनाम तदिति पदार्थस्य सम्यग् विचारः,
> अद्वैतं तत्वमिति पदयोरैक्य मित्यर्थबोधः।
> स्वात्मानन्याः सकलविषयाः सच्चतेषां न भिन्नम्,
> नव्य प्रस्थान मतमिति सिद्धौ ममेह प्रयासः।।"[२६]

अर्थात, वेदान्त तत् पदार्थ का सम्यग् विचार है और अद्वैत 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ के ऐक्य का बोध (विमर्श) है। सभी विषय आत्मा से अनन्य हैं तथा उनकी सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं है। याचित मण्डन न्याय के द्वारा आत्मा की सत्ता ही समस्त विषयों की सत्ता हो जाती है। इन सब मतों तथा उनके स्थापना की विधि अनन्यता प्रस्थान द्वारा सिद्ध किया जाता है।

ऋग्वेद भी कहता है- 'यः तन्नवेद किं ऋचा करिष्यति' अर्थात जो 'तत्' को नहीं जानता उसको ऋग्वेद भी ठोस ज्ञान नहीं दे सकता। इस प्रकार प्रो० पाण्डेय ने 'तत्' के सम्यग् विचार को वेदान्त कहकर वेद के द्वारा निरूपित 'तत्' के ज्ञान से सम्बन्धित कर दिया है। दूसरे शब्दों में अद्वैत वेदान्त भी यथार्थतः 'तत्' का विचार है।

लोकायन एक समाज दर्शन है जो कि प्रो० पाण्डेय के चिंतन की मौलिक कल्पना है। यह दर्शन हमें सहजीवन, सहानुभूति और सत्कर्म की प्रेरणा देता है और साथ ही साथ सामाजिक

समता, समान मानसिकता, समान चरित्र, सौहार्द और सौमनस्य प्राप्त करने का आदेश भी देता है। प्रो० पाण्डेय ने ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र को लोकायन दर्शन का भरत वाक्य माना है-

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध कस्यस्विद्धनम्।।"[२७]

लोकायन समाजदर्शन के रूप में व्यक्तियों एवं उनके सामाजिक संगठनों की स्वतन्त्रता का एक सा हिमायती है क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ मात्र व्यक्तियों की ही स्वतंत्रता नहीं है अपितु उनके सामाजिक संगठनों की स्वतंत्रता है। लोकायन का आधार अध्यात्मवाद है जिसकी पराकाष्ठा अद्वैतवाद में हुई है। उसके अनुसार जैसे मनुष्य मुख्यतः आध्यात्मिक है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् आध्यात्मिक है। लोकायन दर्शन में समाज को व्यक्तियों का संगठन कहा गया है। व्यक्ति भाषा, संस्कृति और रीतिरिवाजों से बँधा हुआ है, वह समाज पर बल देता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि समाज का ही दूसरा नाम लोकायन है। लोकायन वेदान्त सम्मत सिद्धान्त होने के कारण वेदान्त की ही भाँति सामाजिक कल्याण और शुभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह ऐसे समाज की स्थापना करता है, जहाँ व्यक्तिगत मूल्यों की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की प्रबलता होगी और द्वन्द्व तनाव नहीं होगा। ऐसी सामाजिक व्यवस्था उस औपनिषदिक व्यवस्था की याद दिलाती है जिसमें ऋषि कहता है -

"सह नावतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै"[२८]

इस प्रकार लोकायन दर्शन सम्पूर्ण मानवता को एक वृहत् परिवार मानते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना को साकार करता है। आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, समता और विश्वबंधुत्व के आदर्शों के कार्यान्वयन की संभावना विज्ञान तकनीकी और सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के कारण बढ़ गयी है। मानव की स्वतंत्रता और उसके विकास को लेकर सम्पूर्ण विश्व में मतैक्य है। यह लोकायन वाद के औचित्य को सिद्ध करने वाला सबल प्रमाण है।[२९]

प्रो० पाण्डेय के दर्शन का सार उन्हीं के द्वारा विरचित अधोलिखित श्लोकों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -

लोकायनं सुगमराज समाजनीतिः,
संदर्शनं च नवदर्शन शास्त्ररूपम्।।
यद् ज्ञायते तदखिलं चिदनन्यकल्पयम,
प्राहेति सङ्गम विचार नय प्रवीणः।।
श्रुतरेकायनं सिद्धं रामायणं स्मृतेः पुनः,
युक्त्या लोकायनं सिद्धं व्यवस्था मूलकारणम्।।
प्राचीनैर्दर्शनं सिद्धं नव्यैरदर्शनं तथा,
संदर्शनं द्वयोर्मूयं सिद्धं तयोः समन्वयात्।।
प्रस्थानं यदनन्यत्वं प्रस्थापयति तर्कतः,
सर्वप्रस्थान सिद्धान्त सारामृतं तदुच्यते।।[30]

अर्थात्, लोकायन राजनीति और समाज दर्शन का सुन्दर सिद्धान्त है। संदर्शन नवीन दर्शनशास्त्र का स्वरूप है। जो कुछ ज्ञेय है वह आत्मा के द्वारा कल्पित और आत्मा से अनन्य है, ऐसा वे लोग कहते हैं जो संगम लाल पाण्डेय के दार्शनिक सम्प्रदाय के ज्ञाता हैं। श्रुतियों ने एकायन विद्या को समाज व्यवस्था का मूलकारण बताया है और स्मृतियों ने रामायण विद्या सर्वेश्वर राम के चरित्र के रूप में समस्त सामाजिक मूल्यों की व्याख्या किया है। पहली विद्या तत्ववादी है और दूसरी ईश्वरवादी है। इन दोनों का समन्वय लोकायन दर्शन में है जो तत्व ज्ञान और ईश्वरमीमांसा से आगे जाकर युक्ति के द्वारा लोक कल्याण के दर्शन का प्रतिपादन करता है। प्राचीन मनीषियों ने दर्शन को माना था, नवीन मनीषियों ने दर्शन का निराकरण कर दिया, द्वन्द्वन्याय विधि, संदर्शन इन दोनों का समन्वय तथा उनका मूल है। जो प्रस्थान अनन्यता को सिद्ध करता है वह सभी प्रस्थानों के सिद्धान्तों का सार है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि समकालीन दार्शनिकों में श्री अरविन्द, प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के पश्चात् प्रो० संगम लाल पाण्डेय ही ऐसे दर्शन के मनीषी विद्वान हैं, जो पारम्परिक दर्शन के सशक्त अधिवक्ता होने के साथ-साथ दर्शन की नई विधाओं की उद्भावना में एवं दर्शन की नवीन शब्दावली गढ़ने में अपूर्व क्षमता रखते थे। उन्होंने दर्शन

को 'संदर्शन' का नया आयाम देकर, 'लोकायन' को समाज दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित कर, अनन्यता प्रस्थान की स्थापना कर नवीन चिंतन प्रस्तुत किया। स्वाराज्य, लोकायन, 'व्यवहारे तु भाट्टनयः' के स्थान पर 'व्यवहारे तु गांधीनयः', 'नेति-नेति' के मूल में 'इति-इति' की स्थिति, आहार्यज्ञान सिद्धान्त आदि नवीन पदावलियों और सम्प्रत्ययों की उद्भावना सारगर्भित है। ये सब दर्शन जगत् की अप्रतिम उपलब्धियाँ हैं।

सन्दर्भ

१. भगवद्गीता, ४/३४

२. शारीरक भाष्य, १.१.२

३. ज्ञान, मूल्य और सत्, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ६२

४. शारीरक भाष्य, १.१.४

५. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, पृ० ५६

६. प्री-शंकर अद्वैत फिलोसोफी, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १५७

७. ब्रह्मसूत्र, २.१.११

८. शारीरक भाष्य, २.१.११

९. शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ३५

१०. वही, पृ० ३५

११. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०६

१२. भगवद्गीता, ५/११

१३. सर्ववेदान्त सिद्धान्त सारसंग्रह, पृ० २६५

१४. गांधी का दर्शन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० ५७

१५. संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांग, पृ० ३२८

१६. प्रो० पाण्डेय द्वारा विरचित श्लोक, जो उनके अंग्रेजी निबन्ध 'The Advaita School of Identity' में दिया गया है। संदर्शन सत् २००२ में प्रकाश्य

१७. ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १०४

१८. 'दि अद्वैत स्कूल आफ आइडेन्टिटी' नामक निबन्ध, संगम लाल पाण्डेय, संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य

१९. ब्रह्मसूत्र, शारीरक भाष्य, १.३.२८

२०. अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइंस, संगम लाल पाण्डेय, पृ० २

२१. वही, पृ० ८

२२. वही, पृ० १२-१३

२३. 'अनन्यतास्ति बाधश्चेन्न चेद् बाधस्ततस्तराम।
अनन्यतावधिर्बाधो बाधावधिरनन्यता।।'
शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १८६

२४. वृहदारण्यक उपनिषद् भाण्य, २.४.६

२५. "आहार्य ज्ञान मिति तद्भिन्नः सदिच्छा विमर्शः।
मिथ्याध्यासात् पृथगिति विमर्शः स्वरूपस्य सत्यम्।।"
प्रो० पाण्डेय द्वारा विरचित श्लोक, जो उनके अंग्रेजी निबन्ध 'The Advaita School of Identity' में दिया गया है; संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य।

२६. वही, संदर्शन सन् २००२ में प्रकाश्य

२७. ईश उपनिषद् -१

२८. कठोपनिषद् -१

२९. समाज दर्शन की एक प्रणाली, संगम लाल पाण्डेय, पृ० १८४

३०. अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता प्रस्थान, डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय, आमुख से उद्धृत

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

परिशिष्ट : सहायक ग्रन्थ सूची

१. आचार्य गौडपाद - माण्डूक्य कारिका, गीता प्रेस, गोरखपुर

२. आचार्य शंकर - शारीरक भाष्य (ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य), निर्णय सागर प्रेस बम्बई

- भगवद्गीता-शांकर भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित गीता प्रेस, गोरखपुर

- ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित गीता प्रेस, गोरखपुर

- पंचीकरणम्, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस

३. जयन्त भट्ट - न्याय मंजरी, संपादक-सूर्य नारायण शुक्ल, काशी सं० पी० वाराणसी, १६८२

४. स्वामी विद्यारण्य - पंचदशी, सटीक, संपादक महेश्वरानन्द मंडलेश्वर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६४६

५. सदानन्द - वेदान्त सार, संपादक मै० हिरियन्ना, ओरिएन्टल बुक एजेन्सीज पूना

६. गोस्वामी तुलसीदास - रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर

७. डा० रमाकान्त त्रिपाठी - चतुः सूत्री भाष्य, उ० प्र० हिन्दी संस्थान लखनऊ, १६६१

८. डा० रमाकान्त अंगिरस - शांकर वेदान्त एक अनुशीलन, नटराज पब्लिशिंग हाउस करनाल, १६८२

६. डा० चन्द्रधर शर्मा - भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी

११. डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे - उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १६८६

१२. डा० चक्रधर बिजल्वान - भारतीय न्यायशास्त्र, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ १६८३

१३. डा० डी०डी० बदिष्टे एवं डा० रमाशंकर शर्मा - भारतीय दार्शनिक निबन्ध, म०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

१४. डा० पाल डायसन - दि सिस्टम आफ वेदान्त, हिन्दी अनुवाद-वेदान्त दर्शन संगम लाल पाण्डेय, उ०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, १६७१

१५. डा० बिल्हेम हाफ फास - इण्डिया एण्ड योरप, स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क १६८८

१६. डा० संगम लाल पाण्डेय - ज्ञान, मूल्य और सत्, साहित्यवाणी इलाहाबाद, १६७३

१७. डा० संगम लाल पाण्डेय - प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १६७४

१८. डा० संगम लाल पाण्डेय - ह्विदर इंडियन फिलासफी, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १६७८

१६. डा० संगम लाल पाण्डेय - डायनमिक्स आफ इण्डियन सोसाइटी, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १६८१

२०. डा० संगम लाल पाण्डेय - वेदान्तिक सोशल फिलासफी, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १६८८

२१. डा० संगम लाल पाण्डेय - गांधी का दर्शन, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १६८५

२२. डा० संगम लाल पाण्डेय - समाज, धर्म और राजनीति, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १९८१

२३. डा० संगम लाल पाण्डेय - भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९८४

२४. डा० संगम लाल पाण्डेय - नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९७८

२५. डा० संगम लाल पाण्डेय - समाज, दर्शन की एक प्रणाली, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १९९६

२६. डा० संगम लाल पाण्डेय - गहन ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न, दर्शन पीठ, इलाहाबाद

२७. डा० संगम लाल पाण्डेय - शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, २००१

२८. डा० संगम लाल पाण्डेय - देशभक्ति चतुष्टयम्, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १९८७

२९. डा० संगम लाल पाण्डेय - भारतीय दर्शन की एक कहानी, आर० बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, १९६४

३०. डा० संगम लाल पाण्डेय - अद्वैत ऐज ए फिलासफी आफ साइंस, (लेख) इण्डियन फिलासोफिकल कांग्रेस, १९७६

३१. डा० संगम लाल पाण्डेय - पेरिनियल्स आफ कम्परेटिव फिलासफी, दर्शन पीठ इलाहाबाद

३२. डा० संगम लाल पाण्डेय - दि अद्वैत स्कूल आफ आइडेन्टिटी, (लेख) संदर्शन २००२ में प्रकाश्य

३३. डा० संगम लाल पाण्डेय - मैटीरियल्स एण्ड मोटिफ्स आफ दि फिलासोफिकल ट्रेडीशन्स आफ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, आर० एन० कौल लाइब्रेरी, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९८१

३४. डा० संगम लाल पाण्डेय - संस्कृत वाङ्गमय का वृहद् इतिहास, दशम खण्ड वेदान्त, उ०प्र० संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९९९

३५. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन, खण्ड- १, २, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली

३६. डा० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता - भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड-२, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४

३७. एम० हिरियन्ना - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

३८. डा० नन्द किशोर देवराज - भारतीय दर्शन (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन), उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८३

३९. वाचस्पति गैरोला - भारतीय दर्शन, लोकभारती, द्वितीय संस्करण १९९९

४०. डा० बद्रीनाथ सिंह - भारतीय दर्शन, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स एण्ड कम्पनी, वी० एच० यू० मार्ग लंका, वाराणसी-५, १९९०

४१. डा० बल्देव उपाध्याय - भारतीय दर्शन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९४५

४२. डा० उदयवीर शास्त्री - वेदान्त दर्शन का इतिहास, विजय कुमार गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली १९९१

४३. डा० नरेन्द्र सिंह - मायावाद के आधुनिक खण्डन की समीक्षा, इलाहाबाद २००२

४४. डा० गजानन शास्त्री 'मुसलगावंकर' - वेदान्त परिभाषा, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९८३

४५. डा० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी - दि नेचर आफ सेल्फ, दि इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३८

४६. डा० रामस्वरुप सिंह नौलखा - आचार्य शंकरः ब्रह्मवाद, किताब घर, कानपुर-३

४७. डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय - शंकर मिश्र : अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १९९०

४८. डा० सत्य प्रकाश पाण्डेय - अद्वैत परिभाषा : संगम लाल पाण्डेय का अनन्यता, प्रस्थान, दर्शन पीठ इलाहाबाद, २००२

४९. डा० जगदीशसहाय श्रीवास्तव - अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, १९९९

५०. डा० जटाशंकर त्रिपाठी - वेदान्तिक समाजवाद, समाज धर्म दर्शन, इलाहाबाद, १९९९

५१. डा० के० सच्चिदानन्द मूर्ति - समकालीन भारतीय दर्शन, अखिल भारतीय दर्शन परिषद, १९९२

५२. डा० स्वयं प्रकाश पाण्डेय - तत्वानुसन्धान का दर्शन, दर्शन पीठ इलाहाबाद, १९८९

५३. डा० आर० डी० रानडे - दि कान्सेप्शन आफ स्प्रिच्युअल लाइफ इन महात्मा गांधी एण्ड हिन्दी सेंट्स, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद

५४. महात्मा गांधी - प्रार्थना - प्रवचन, भाग १, २ सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

५५. महात्मा गांधी - गीता-माता, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

५६. डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त - दि फिलासफी आफ महात्मा गांधी

५७. डा० चन्द्रशंकर शुक्ल - गांधीजी व्यूज आफ लाइफ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

५८. गुलाब सिंह 'निर्मल' - मोक्षपन्थ प्रकाश, श्री निर्मल पंचायती अखाड़ा कनखल हरिद्वार, १९७७

५९. डा० अर्जुन मिश्र एवं डा० एच० एन० मिश्र - अद्वैत वेदान्त, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

६०. डा० जगदीशसहाय श्रीवास्तव एवं डा० रामशकल पाण्डेय - संदर्शन : डा० संगम लाल पाण्डेय विशेषांक, उ०प्र० दर्शन परिषद और आर० एन० कौल लाइब्रेरी दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय १६६०

६१. गोपीनाथ कविराज - भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पटना, १६६३